मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त

ले० एल० लियोन्तीव

इण्डिया पब्लिशर्स

लखनऊ

Fundamentals of Marx'st Political Economy

by L. Leontiev
Translated by Ramesh Sinha

मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त

लेखक
एल० लियोन्तीव

सम्पादक तथा अनुवादक:
रमेश सिनहा

प्रकाशक:
इण्डिया पब्लिशर्स,
सी–७/२, रिवर बैंक कालोनी, लखनऊ
(फोन: २४१९१)

प्रथम संस्करण: दिसम्बर, १९६६

मूल्य: २ रुपया ५० पैसा

मुद्रक:
अधिकार प्रेस,
२२ कैसरबाग,
लखनऊ

इस छोटी-सी पुस्तक में अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का परिचय दिया गया है। विषय को सुगम बनाने की दृष्टि से विद्वान् लेखक ने प्रश्न-उत्तर की लोकप्रिय प्रणाली अपनायी है।

पुस्तक के लेखक, श्री एल० लियोन्तीव अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के सोवियत अर्थशास्त्री है। उनके लेखो और ग्रन्थो को सारी दुनिया में सम्मान और भय से पढ़ा जाता है—सम्मान से प्रगतिशील राष्ट्रीय और समाजवादी हल्कों मे, और भय तथा आशका से पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के प्रतिक्रियावादी कोटरों में।

"पूंजीवाद का आम संकट" (१९६०), *"राजनीतिक अर्थशास्त्र : एक प्रारम्भिक पाठ्य-क्रम"* (१९६०), *"मार्क्स की पूंजी का अध्ययन"* (१९६१), *"लेनिन का साम्राज्यवाद सम्बन्धी शोध-कार्य"*, आदि उनकी रचनाएँ बहुत प्रसिद्ध हुई है।

जैसा कि विषय-सूची से भी स्पष्ट है, इस पुस्तक में पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के आत्मनाशक अन्तर्विरोधों का विश्लेषण करने के साथ-साथ समाजवादी अर्थ-व्यवस्था को सचालित करने वाले नियमों की भी वैज्ञानिक व्याख्या की गई है और बताया गया है कि समाजवाद से साम्यवाद की ओर—सोशलिज़्म से कम्युनिज़्म की ओर—समाज कैसे संक्रमण करता है। इस विषय पर हिन्दी में अभी तक कोई रचना प्राप्त नही थी।

आशा है कि अर्थ-शास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीति के विद्यार्थियो के अलावा वे कर्मठ लोग भी इस पुस्तक से फ़ायदा उठायेंगे जो देश की वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के स्थान पर एक नयी, समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करने के प्रयत्न मे जुटे हुए हैं।

—सम्पादक

विषय-सूची

राजनीतिक अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु

राजनीतिक अर्थशास्त्र विज्ञानों की
किस श्रेणी में आता है ?

राजनीतिक अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है। किसी भी क्षेत्र में सफलतापूर्वक काम करने के लिए आवश्यक होता है कि उस क्षेत्र से सम्बन्धित विज्ञान के नियमों की आदमी को सही-सही जानकारी हो। धातु-शोधन करने वाला आदमी समझता है कि वाप-भट्ठी तथा खुली भट्ठी के अन्दर की रासायनिक और प्रौद्योगिक प्रक्रियाओं की जानकारी के बिना लोहे या इस्पात को गलाकर शुद्ध करने का काम नहीं किया जा सकता। मशीन बनाने वाला आदमी जानता है कि यान्त्रिकी और भौतिकी के नियमों की अवहेलना करके वह कुछ नहीं बना सकता। फल पैदा करने वाला बागवान जानता है कि उसकी सफलता वनस्पति-शास्त्र तथा पौदों के विकास के नियमों के ज्ञान तथा उनके कुशल इस्तेमाल पर निर्भर करती है। यही बात सामाजिक गतिविधि के सम्बन्ध में भी लागू होती है। वह तभी सफल होती है जब उसका संचालन सामाजिक विकास के नियमों के सही-सही ज्ञान तथा कुशल उपयोग के आधार पर किया जाता है।

सामाजिक जीवन अत्यन्त जटिल तथा बहुमुखी होता है। राजनीति, अर्थशास्त्र, संस्कृति, कला और विचारधारा—सभी उसके अन्तर्गत आते हैं। अलग-अलग सामाजिक विज्ञान समाजिक जीवन के

अलग-अलग पहलुओं का अध्ययन करते हैं। राजनीतिक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध आर्थिक जीवन से होता है। उसकी विषय-वस्तु भौतिक उत्पादन है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र उत्पादन के किस पक्ष का अध्ययन करता है ?

उत्पादन के दो पक्ष होते है—प्राविधिक तथा सामाजिक। उत्पादन के प्राविधिक पक्ष का अध्ययन प्राविधिक तथा प्राकृतिक विज्ञान करते है। धातु-विज्ञान कच्ची धातु को साफ करके उससे धातुएँ तैयार करने की प्रक्रियाओ की जाँच-पडताल करता है, रसायनशास्त्र अनेक उद्योग-धन्धो को वैज्ञानिक आधार पर खडा करने मे मदद देता है, इत्यादि। कृषि उत्पादन के प्राविधिक पहलुओ का अध्ययन कृषि-विद्या करती है। इंजीनियरिंग उद्योग का विकास भौतिकी, रसायनशास्त्र, यान्त्रिकी, तथा कई और प्राविधिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों के व्यापकतम उपयोग पर निर्भर करता है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र इन विज्ञानो से भिन्न है; वह उत्पादन के सामाजिक पक्ष का अध्ययन करता है। इसका उत्पादन की सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्ध होता है।

सामाजिक जीवन में उत्पादन का क्या स्थान है ?

जीवित रहने के लिए आवश्यक होता है कि लोगो के पास भोजन, वस्त्र, सिर पर छाँह तथा अन्य ज़रूरी चीजें हों। ये तमाम *भौतिक सुविधाएँ आसमान से नही टपक पडती। इन्हे स्वयम् अपनी* मेहनत-मशक्कत से लोग पैदा करते हैं। उत्पादन के अन्तर्गत लोगो

की उसी मेहनत-मशक्कत की गणना की जाती है जिसका लक्ष्य जीवन के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करना होता है।

उत्पादन एक ऐसी आवश्यक क्रिया है जिसके बिना समाज क़ायम ही नही रह सकता। इससे पहले कि विज्ञान, कला, अथवा राजनीति मे लोग दिलचस्पी ले सकें उन्हे अपनी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है और इन बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों को पैदा करना पडता है। मानव-जाति के इतिहास में एक प्रकार के सामाजिक सगठन का स्थान दूसरे प्रकार के सगठन ने ले लिया है, सामाजिक सगठन के रूप बदलते गये है, लोगों के रहन-सहन की परिस्थितियाँ बदलती गयी है; किन्तु समाज के अस्तित्व का आधार सदा उत्पादन ही बना रहा है।

सामाजिक विज्ञान में मार्क्सवाद ने जो क्रान्ति कर दी है उसका क्या सार है ?

सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र मे मार्क्सवाद ने जो क्रान्ति की है उसकी तुलना उस क्रान्ति के साथ की जा सकती है जो जैव प्रकृति विज्ञान (Science of organic nature) के क्षेत्र मे डारविन ने ला दी थी।

डारविन से पहले जैव जगत (Organic world) को लोग एक स्थिर और अपरिवर्तनीय वस्तु समझते थे। डारविनवाद ने इस समझदारी का अन्त कर दिया था और सिद्ध कर दिया था कि दुनिया मे निरन्तर गति होती रहती है, निरन्तर तबदीली होती रहती है। सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र मे इसी तरह की उथल-पुथल मार्क्सवाद ने पैदा कर दी है। समाज की अपरिवर्तनशीलता तथा अचलता की पुरानी धारणा के स्थान पर उसने एक सुसंगत नयी समझदारी की

स्थापना कर दी है। इस समझदारी ने सामाजिक विकास तथा सामाजिक स्वरूपों के परिवर्तन-क्रम को संचालित करने वाले नियमों को स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार, *समाज के अध्ययन क्षेत्र में भी* विकास के उसी आम सिद्धान्त को उसने लागू कर दिया जो कि वैज्ञानिक ज्ञान-प्राप्ति की किसी भी क्रिया का मूलाधार होता है।

प्रकृति अथवा सामाजिक जीवन की प्रक्रियाओं को जब तक शाश्वत और अपरिवर्तनीय माना जाता है तब तक वैज्ञानिक रूप में उनका कोई ज्ञान प्राप्त करना बहुत मुश्किल होता है। प्रकृति तथा सामाजिक जीवन के किन्हीं भी घटना प्रवाहों को समझने एवं उनका वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त करने का वास्तविक मार्ग केवल तभी खुलता है जब कि उन पर हमेशा इस चीज को ध्यान में रख कर विचार किया जाता है कि *उनके एक प्रकार के रूपों का स्थान* सदा दूसरे प्रकार के रूप ले लेते है, उनके अन्दर एक सतत तथा अन्तहीन प्रक्रिया आगे की ओर बढने की चलती रहती है, उनमे जो पुराना और जीर्ण हो जाता है उसका निर्वाण होता जाता है और उसके स्थान पर सदा नये का उदय होता जाता है।

मार्क्सवाद ने सिद्ध कर दिया है कि लोगों के जीवन तथा मानव समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक भौतिक सम्पदा का उत्पादन ही समस्त सामाजिक जीवन का आधार है। ऐतिहासिक विकास-क्रम में सामाजिक व्यवस्था के रूप बदल जाते है; उसकी आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ बदल जाती है; किन्तु उत्पादन हमेशा ही मानव समाज के अस्तित्व की मुख्य तथा मूलभूत आवश्यकता बना रहता है। उसके बिना किसी भी मानव समाज का अस्तित्व कायम नही रह सकता।

मार्क्सवाद के पूर्ववर्तियों ने इतिहास को भाववादी दृष्टिकोण से

व्याख्या करने की चेष्टा की थी। उनका कहना था कि "दुनिया विचारों (भावों) से शासित होती है।" इस व्याख्या ने वास्तव में व्याख्या करने के असली काम को ही तिलांजलि दे दी थी और प्रश्न का उत्तर देने के बजाय उससे मुंह चुरा लिया था।

मार्क्सवाद ने साहसपूर्वक प्रश्न उठाया कि विचार (भाव) स्वयं क्यों पैदा होते है और फिर इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर दिया। उसने कहा कि मानव समाज के इतिहास को समझने की कुंजी को, सामाजिक विकास को शासित करने वाले वस्तुगत नियमों का पता लगाने वाली कुंजी को लोगों के मस्तिष्कों मे नही, जिन विचारों को वे प्रतिपादित करते है उनमे नहीं, बल्कि उत्पादन की उन वस्तुगत परिस्थितियों के अन्दर हमे ढूंढ़ना चाहिए जो समस्त मानवी क्रियाशीलता के आधार की रचना करती हैं।

लोग स्वयम् अपने इतिहास की रचना करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि लोगों की क्रियाशीलता के पीछे, खासतौर से लोगों के विशाल जन समुदायों की क्रियाशीलता के पीछे क्या उद्देश्य होते हैं ? इन उद्देश्यों (अथवा प्रयोजनों) को कौन चीज तै करती है ? परस्पर-विरोधी विचारों तथा इच्छा-आकांक्षाओं मे जो संघर्ष होता है उसके पीछे कौन चीज काम करती है ?

प्रत्येक विचार, प्रत्येक प्रकार की सामाजिक चेतना के उदय तथा प्रसार के कारण सामाजिक सत्ता (अस्तित्व) मे निहित होते हैं, वे समाज के भौतिक जीवन के रूपों तथा उसकी परिस्थितियों मे निहित होते है। क्या इसका अर्थ यह होता है कि विचार (ideas) मानवजाति के इतिहास मे कोई भूमिका ही नहीं अदा करते ? इसके बजाय कि मार्क्सवाद प्रगतिशील विचारों की उस महान सृजनात्मक तथा परिवर्तनकारी

भूमिका से इन्कार करे जो समाज के जीवन में वे अदा करते हैं, वह हमें उनकी भूमिका की वास्तविक तथा पूर्ण समझदारी प्राप्त करने में मदद देता है, उसे समझने की कुंजी प्रदान करता है। जन समुदायों के मस्तिष्कों में विचार मजबूती से घर कर लेते हैं तब वे एक भौतिक शक्ति बन जाते हैं। मार्क्सवाद ने सिद्ध कर दिया है कि भौतिक उत्पादन का क्षेत्र, उत्पादक क्रियाशीलता का ही क्षेत्र सामाजिक विकास का असली आधार है। समस्त सामाजिक जीवन में श्रम का—भौतिक उत्पादन के क्षेत्र का—क्या वास्तविक स्थान तथा महत्व है इसे सबसे पहले मार्क्सवाद ने ही बतलाया है। उसकी यह महत्वपूर्ण खोज कि लोगों की श्रम-सम्बन्धी क्रियाशीलता ही मानव समाज का आधार है उसके इस निष्कर्ष के साथ जुड़ी हुई है कि ऐतिहासिक रूप से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जानी चाहिए जिसमें "दुनिया का शासन श्रम करेगा।"

उत्पादन के बुनियादी तत्व क्या हैं?

मानव की उत्पादन सम्बन्धी क्रियाशीलता की परिस्थितियों में प्राचीन काल से लेकर आज तक बराबर जबर्दस्त विकास होता आया है। आदिम युग में मनुष्य के पास पत्थर और लकुटी जैसे केवल सबसे सरल किस्म के औज़ार होते थे। इन औज़ारों की सहायता से दरख्तों से वह फल गिरा लेता था, अथवा ज़मीन से खोदकर कन्द-मूल निकाल लेता था और, इस भाँति, अपने अस्तित्व को किसी प्रकार बनाये रखता था। हमारे जमाने में लोग अब विशाल फैक्टरियों तथा कारखानों में नाना प्रकार की वस्तुएँ पैदा करने लगे हैं।

ऊपर से देखने पर लग सकता है कि आदिम काल तथा वर्तमान

युग के लोगो की उत्पादन सम्बन्धी क्रियाशीलता मे किसी प्रकार का साम्य नही है। किन्तु वास्तविकता यह नही है। विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि सामाजिक विकास की समस्त मंजिलो मे उत्पादन के लिए तीन मुख्य तत्व आवश्यक होते हैं। इनमे से पहला तत्व मनुष्य का स्वयम् अपना श्रम होता है, दूसरा, श्रम की वस्तुएं (objects of labour) और तीसरा, श्रम के साधन।

मानव की सोद्देश्य क्रियाशीलता को ही "श्रम" कहा जाता है। वह हर चीज जिसमें मानव श्रम लगाया जाता है "श्रम की वस्तु" कहलाती है। और, वे तमाम चीजें जिनकी सहायता से मनुष्य श्रम की वस्तुओं पर काम करता है, "श्रम के साधन" होती है।

उत्पादन के इन तीन मुख्य तत्वो को अब हम कुछ और अधिक विस्तार से देखें।

मनुष्य को किस क्रियाशीलता को श्रम कहा जाता है ?

श्रम मनुष्य की क्रियाशीलता होती है। किन्तु मनुष्य की हर क्रियाशीलता श्रम नही होती। उदाहरण के लिए, काम के बाद मनुष्य कोई अखबार या किताब पढ़ता है, शतरंज खेलता है, संगीत सुनता है, अथवा कोई फिल्म देखता है। ये सब भी मानवी क्रियाशीलता के विभिन्न रूप हैं, किन्तु ये श्रम की श्रेणी मे नही आते।

श्रम सबसे पहले उस मानवी क्रियाशीलता को कहते है जिसका लक्ष्य ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करना होता है जो मनुष्य के जीवन के लिए आवश्यक होती है। मनुष्य को अपने जीवन के लिए जिन चीजों की जरूरत होती है उनमे से हर एक उसे आमतौर से प्रकृति मे बनी-बनायी नही मिल जाती। प्रकृति की वस्तुओं को लोग इस प्रकार

अपने माफिक बना तथा बदल लेते हैं जिससे कि वे उनकी जरूरतों को पूरा करने के योग्य बन जाती है। छाँह (या आश्रय) की आवश्यकता को पूरा करने के लिए लोग पेड़ों को काट लेते हैं; ईंटें, सीमेन्ट, इस्पात, कंकरीट तथा मकान बनाने के लिए आवश्यक दूसरी चीज़ें तैयार करते हैं, और फिर, इन चीज़ों की मदद से घर बना लेते हैं। कपड़ों की अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिए लोग कपास पैदा करते है, उसे कातते और बुनते है और फिर उसे सी लेते हैं।

श्रम की क्रिया के दौरान लोग अपने शरीर के विभिन्न अंगों— हाथों, पैरों, मस्तिष्क, आदि का इस्तेमाल करते हैं। इन अंगों की सहायता से वे बाह्य प्रकृति द्वारा प्रदत वस्तुओं पर काम करते हैं। *प्रकृति की कृपा के आसरे लोग बैठे नही रह सकते; अपने जीवन के* लिए आवश्यक हर चीज को प्राप्त करने के लिए उन्हे प्रकृति पर सक्रिय रूप से प्रभाव डालना पडता है। लोगों की श्रम सम्बन्धी क्रियाशीलता (labour activity) मनुष्य के प्रकृति-विरोधी संघर्ष की ही अभिव्यक्ति है। इस संघर्ष मे, प्रकृति की वस्तुओं को अपने उद्देश्यों के अनुकूल बनाने के लिए मनुष्य प्रकृति की शक्तियों का—पशुओं, भाप, बिजली, रासायनिक प्रतिक्रियाओं, आदि-आदि की शक्तियों का— इस्तेमाल करता है।

भौतिक उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में लगे लोगों के श्रम के साथ-साथ उन लोगों का श्रम भी समाज के जीवन मे काफी बडी भूमिका अदा करता है जो सामाजिक रूप से उपयोगी अन्य कार्यों मे रत रहते है। शिक्षकों, डाक्टरों, वैज्ञानिकों तथा कलाकारों का श्रम, प्रबन्ध-सम्बन्धी तथा सार्वजनिक व्यवस्था को बनाये रखने के कार्यों, आदि से सम्बन्धित श्रम—इसी तरह का श्रम होता है। इन श्रेणियों के श्रमिकों के श्रम की भी समाज को जरूरत होती है।

श्रम मानव जीवन की एक प्राकृतिक अनिवार्यता है। इसलिए मानव जीवन के सभी सामाजिक स्वरूपो मे वह समान रूप से अन्त-र्निहित रहता है। ऐतिहासिक क्रम मे एक सामाजिक व्यवस्था के स्थान पर दूसरी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना हो जाती है; किन्तु लोगो की श्रम सम्बन्धी क्रियाशीलता हमेशा ही समाज के अस्तित्व की आवश्यक शर्त बनी रहती है।

श्रम की वस्तु किसे कहते हैं ?

हमने पहले बतलाया है कि श्रम की वस्तु (object of labour) उस हर चीज को कहते है जिसमे मानवी श्रम को लगाया जाता है। श्रम की वस्तुएँ दोनो प्रकार की हो सकती है—वे जो प्रकृति से प्राप्त होती है, और वे जिन पर प्रारम्भिक कार्यवाही की जा चुकी है।

उदाहरण के लिए, हम किसी ऐसे खनिक (खान मजदूर) को ले लें जो कोयले अथवा कच्ची धातु की खुदाई का काम करता है। वह कोयले को काटता है अथवा कच्ची धातु को तोड़ता और फिर उसे ऊपर सतह पर पहुँचाता है। कच्ची धातु के भण्डार, अथवा कोयले की तहे—अर्थात्, स्वयम् प्रकृति द्वारा प्रदान की गयीं वस्तुएँ ही—उसके "श्रम की वस्तुऐं" होती हैं।

दूसरे उदाहरणों में हम श्रम की उन वस्तुओं को देख सकते हैं जिनमें कुछ मानव श्रम पहले लग चुका होता है। खनिक द्वारा खोदे जाने और सतह पर ले आये जाने के बाद कोयले को जब कोक तथा विभिन्न प्रकार के रसायनों के उत्पादन मे कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होने के लिए पत्थर के कोयले (कोक) के किसी कारखाने मे भेज दिया जाता है तब वह इसी दूसरी श्रेणी की श्रम की वस्तु होता

है। इसी प्रकार, लोहे के ओर (कच्ची धातु) को जमीन से निकालने के बाद जब इस्पात के किसी ऐसे कारखाने मे भेज दिया जाता है जहाँ भट्ठियों तथा खुली भट्ठियों मे गलाकर लोहा और इस्पात तैयार करने के लिए उसका इस्तेमाल किया जाता है—तब वह भी इसी दूसरी श्रेणी की श्रम की वस्तु होता है। पर इस क्रिया का अन्त यहीं नहीं हो जाता। इस भाँति जो धातु तैयार होती है उसे ले जाकर इ जीनियरिंग के कारखानों मे दे दिया जाता है और वहाँ उससे मशीनें, आदि तैयार की जाती है। वहाँ भी वह दूसरी श्रेणी की श्रम-वस्तु के रूप मे ही काम आती है।

इस प्रकार, एक ही वस्तु उपयोगीकरण (या माल तैयार करने) की कई-कई मञ्जिलों से गुजर सकती है। समस्त मजिलों मे उसमे मानव श्रम लगाया जायगा और हर जगह वह श्रम की एक वस्तु के रूप मे ही काम मे लायी जायगी।

श्रम की वह वस्तु जो पहले के किसी श्रम की उपज होती है आर्थिक विज्ञान मे कच्चा माल कहलाती है। अस्तु, कच्चा माल चाहे कोई भी हो वह श्रम की वस्तु होता है, किन्तु श्रम की प्रत्येक वस्तु कच्चा माल नहीं होती।

खनिज-पदार्थों तथा जल-स्रोतो से सम्पन्न भूमि श्रम की सार्वभौमिक वस्तु है। एक तरह से प्रकृति एक विशाल भडार है जिसमे श्रम की वस्तुओं के अक्षय रक्षित कोश छिपे पडे है। मनुष्य का काम है कि श्रम की इन वस्तुओं को जमीन के नीचे से निकाल लाये, सागरों और महासागरों की गहराइयों के अन्दर से उन्हें बाहर खींच लाये। जमीन के अन्दर से निकाली जाने वाली कच्ची धातुएँ, नदी अथवा सागर से पकड़ी जानेवाली मछलियाँ, आदि—इसी प्रकार हासिल की गयी वस्तुएँ होती हैं।

पृथ्वी की सम्पदा, उसके खनिज पदार्थ, उसकी तरह-तरह की मिट्टियाँ तथा उसकी जलवायु ही प्राकृतिक परिस्थितियों का वह कुल योग है जो मानव समाज को प्राप्त है। ये प्राकृतिक परिस्थितियाँ अत्यन्त धीरे-धीरे बदलती हैं, किन्तु लोगों द्वारा उनके इस्तेमाल किये जाने का तरीका काफी तेजी से बदलता जाता है। इन प्राकृतिक साधनों का मानव समाज द्वारा किस प्रकार उपयोग किया जाता है यह सबसे अधिक निर्भर करता है प्रौद्योगिक विकास के स्तर पर।

उदाहरण के लिए, कोयले की तहों में बुनियादी तौर से हजारों वर्षों में भी कोई परिवर्तन नहीं होता; किन्तु समाज के अन्दर उनकी भूमिका थोड़े से काल के ही अन्दर बेहद बदल गयी है। उनके भण्डारों का इस्तेमाल न तो प्राचीन काल में किया गया था और न अधिक हाल के कालों में ही। वास्तव में, खानों की खोदायी के काम की शुरुआत तो सिर्फ पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में ही हुई थी।

उत्पादन की अन्य प्राकृतिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में भी प्रायः यही बात लागू होती है। अनेक प्राकृतिक साधन, हाल तक भी जिनका कोई आर्थिक महत्व नहीं था, अब व्यापक रूप से इस्तेमाल में लाये जा रहे हैं। बहुत दिन नहीं हुए जब बाक्साइटों (अल्यूमीनियम के उत्पादन के लिए आवश्यक कच्ची धातुओं) का बिल्कुल ही इस्तेमाल नहीं किया जाता था। अब उनके भण्डारों को खूब जोरों से काम में लाया जा रहा है। आण्विक शक्ति का उपभोग करने के तरीकों की खोज हो जाने के कारण, हाल में यूरेनियम के अयस्कों (कच्ची धातुओं) का भी काफी व्यापक पैमाने पर विकास किया गया है।

श्रम के साधन किन्हें कहते हैं ?

जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है, वे तमाम चीजें जिनकी मदद से आदमी श्रम की वस्तुओं पर काम करता है, "श्रम के साधन" कहलाती है।

जब तक ये साधन सरल थे तब तक इनकी भूमिका भी एकदम साफ थी। दस्तकारी के सम्बन्ध मे यही बात थी। उदाहरणार्थ हम जूता बनाने वाले किसी मोची को ले लें। उसकी श्रम-वस्तु चमड़ा थी, और एक टेकुआ, चाकू, आदि श्रम के उसके सरल साधन थे। यही वे चीजें है जिनकी मदद से वह चमड़े पर काम करता है: उसे काटता है, सीकर जोड़ता है, इत्यादि।

अत्यन्त जटिल तथा नवीनतम मशीनों से लैस बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग-धन्धो के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है। चाहे कोई विशाल वातभट्ठी (blast furnace) हो, चाहे धातु पर काम करने वाला मशीन का कोई बहुधन्धी औजार, चाहे कोई स्वयम्-चालित अन्तरण रेखा (transfer line), और चाहे किसी रासायनिक फैक्टरी का पेचीदा साज़ो-सामान—ये सब श्रम के साधन है। श्रम की वस्तुओं पर काम करने और उनसे तैयार माल बनाने के लिए इनका इस्तेमाल किया जाता है।

श्रम के साधनो का प्रारम्भिक मूल शस्त्रागार भूमि थी। आदिम-कालीन मानव को वे पत्थर उसी मे प्राप्त होते थे जिनका फेंकने, काटने, आदि के लिए वह उपयोग करता था। आगे आने वाले युगो मे मनुष्य द्वारा तैयार किये गये श्रम-साधनो की भूमिका अधिकाधिक बढ़ती गयी—निस्सन्देह, उन्हे भी वह प्रकृति मे मिलने वाली वस्तुओं से ही तैयार करता था।

श्रम के साधनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण श्रम के उपकरण (implements) अथवा औजार (instruments) होते हैं। मशीन-औजार (machine tools), मशीनें, तथा तमाम किस्मों के वे साजो-सामान जिनकी मदद से उत्पादन का कार्य किया जाता है—सब श्रम के उपकरणों या औजारों की ही श्रेणी में आते है। श्रम साधनों का यही भाग उत्पादन के स्वरूप को निर्धारित करता है। श्रम के औजारों के उन्नत हो जाने तथा पुराने औजारों की जगह नये औजारों के आ जाने से प्रकृति के ऊपर मनुष्य की शक्ति बढ जाती है।

अधिक व्यापक अर्थ मे कहा जा सकता है कि उत्पादन की क्रिया के लिए आवश्यक समस्त भौतिक परिस्थितियाँ श्रम का साधन होती हैं। इन भौतिक परिस्थितियों में सबसे पहले भूमि आती है जोकि श्रम का सार्वभौमिक साधन है। उत्पादन के लिए आवश्यक इमारतें, नहरें, सड़कें, आदि भी श्रम के साधनों मे ही सम्मिलित है।

उत्पादन के साधन क्या हैं ?

उत्पादन की पूरी प्रक्रिया को यदि उसके परिणामों, यानी पैदावार के दृष्टिकोण से देखा जाय तो हम पायेंगे कि श्रम के साधन (means of labour) तथा श्रम की वस्तुएँ (objects of labour) दोनों ही उत्पादन के साधनों की श्रेणी मे आती है।

एक ही वस्तु श्रम की एक प्रक्रिया की उपज (product) भी हो सकती है और उत्पादन की दूसरी प्रक्रिया मे उत्पादन के साधन (means of production) की भी भूमिका अदा कर सकती है। यही कारण है कि उत्पादित वस्तुएँ श्रम की किसी क्रिया का केवल फल ही नही होती, वे उसकी पूर्व-आवश्यकता (requisite) भी होती

है। कोई वस्तु कच्चे माल का काम देती है, अथवा श्रम के साधन का, अथवा उत्पादित वस्तु (पैदावार) का—यह चीज़ इस बात पर निर्भर करती है कि इस प्रक्रिया में उसका क्या स्थान है, उक्त प्रक्रिया के अन्दर उसकी क्या भूमिका है। उदाहरण के लिए, कोयले की खदान में कोयला श्रम की पैदावार होता है, किन्तु जब वह कोक की भट्टी में पहुँचता है तो वही कच्चा माल बन जाता है। सांचा कपड़े की मशीन बनानेवाली फैक्टरी में श्रम की पैदावार होता है, और कपड़े की मिल में लग जाने पर वही श्रम का साधन बन जाता है।

उत्पादन के साधन तब तक निर्जीव वस्तुओं का एक ढेर मात्र बने रहते हैं जब तक कि जीवित मानव श्रम उन्हें गति में नहीं लाता। जब तक जीवित मानव श्रम उनमें नहीं लगाया जाता तब तक कोयले की पर्तें ज़मीन के अन्दर ही दबी पड़ी रहती हैं, मशीनें बेकार खड़ी रहती हैं। जीवित मानव श्रम का वह कार्य जो इस बात के लिए आवश्यक होता है कि उत्पादन के साधन अपने काम को पूरा कर सकें—उत्पादन की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इसके विपरीत, उत्पादन के साधन यदि जीवित श्रम के सम्पर्क से दूर रहते हैं तो वे सुस्त ही खड़े रहने के लिए मजबूर होते हैं; चाहे तेज़ गति से हो, चाहे धीरे-धीरे उनका नष्ट होना अनिवार्य होता है; कोयले के भण्डार स्वयम् जल जाते हैं, मशीनों में जंग लग जाता है, इमारतें धीरे-धीरे टूट कर गिर जाती हैं। इस प्रकार, जीवित मानव-श्रम, अर्थात्, स्वयम् मानव ही प्रत्येक उत्पादन क्रिया का निर्णायक तत्व होता है।

मानवीय श्रम की ख़ास विशेषताएं क्या हैं?

चींटियों, मधुमक्खियों, मकड़ियों, बन-बिलावों तथा अन्य कीड़ों-

मकोड़ों, अथवा पशुओं के श्रम के सम्बन्ध में अक्सर हम साहित्य में पढ़ते हैं। ये जीव-जन्तु जिन चीजों का निर्माण करते हैं उनकी सुन्दरता और मोहकता का विवरण या चित्रण प्रायः जनकथा तथा महान लेखकों और कवियों की रचनाओं में मिलता है। कुछ वैज्ञानिकों ने तो मानवों के सामाजिक जीवन की भी व्याख्या पशु जगत् के सामान्य जीवशास्त्रीय नियमों के आधार पर करने की कोशिश की है। मानव श्रम तथा चीटियों अथवा वन-बिलावों के "श्रम" को आसानी से वे एक ही स्तर पर रख देते हैं। किन्तु, पशुओं और कीड़ो-मकोड़ों के क्रिया-कलाप चाहे जितने जटिल हों, मानव श्रम से मूलतः वे भिन्न होते हैं। उनमें और मानवीय श्रम में कोई समानता नहीं होती है। कठिन से कठिन क्रियाओं को भी पशु सहज या वृत्तिक रूप से करते हैं, किन्तु मानवीय श्रम इससे भिन्न होता है। वह एक ऐसी क्रिया होती है जिसके पीछे एक निश्चित, सचेत रूप से निर्धारित किया गया लक्ष्य होता है। श्रम एक ऐसी विशेषता है जो मात्र मनुष्य में पायी जाती है।

मानवीय श्रम की दो बुनियादी विशेषताएँ हैं : एक तो वह एक ऐसी उद्देश्य-पूर्ण क्रियाशीलता होती है जिसका लक्ष्य किसी पूर्व-निर्धारित ध्येय को प्राप्त करना होता है। दूसरे, उसका सम्बन्ध अनिवार्य रूप से श्रम के औजारों के उत्पादन से होता है।

ये दोनों विशेषताएँ एक दूसरे से अटूट रूप से जुड़ी हुई हैं। श्रम के औजारों का, जोकि शुरू में बिल्कुल सरल होते हैं, उत्पादन ही वास्तव में मानवीय श्रम को एक उद्देश्यपूर्ण क्रिया का रूप देता है। दरअसल, श्रम के इन औजारों का उत्पादन ही वह खास विशेषता है जो पशुओं द्वारा की जानेवाली चेष्टाओं से मानवीय श्रम को भिन्न बना देती है। १८वीं शताब्दी के एक लेखक ने सही ही लिखा था कि मानव एक औजार बनाने वाला पशु है।

मानव के पशु जगत से ऊपर उठने की क्रिया में श्रम की क्या भूमिका रही है?

श्रम समस्त मानवीय जीवन की पहली बुनियादी आवश्यकता है। साथ ही-साथ, एक माने में, यह भी कहा जा सकता है कि स्वयम् मानव की सृष्टि श्रम ने ही की है।

१९२५ में अमरीका के डेटन (Dayton) नामक शहर में एक सनसनीखेज मुकदमा चला था। स्कोप्स नामक एक नौजवान शिक्षक के ऊपर एक गम्भीर अभियोग लगाया गया था : उसका अपराध यह था कि पढ़ाते समय अपने विद्यार्थियों को उसने बतलाया था कि मानव की उत्पत्ति बन्दर से हुई है। उसके खिलाफ लगाये गये सख्त अभियोग-पत्र में लिखा गया था : मानव की उत्पत्ति यदि वानर से हुई थी, तो फिर उसमें ईश्वर की क्या भूमिका थी? और फिर बाइबिल (इंजील) का यह कथन कहाँ गया जिसमें बतलाया गया है कि मानव की सृष्टि ईश्वर ने स्वयम् अपने रूप के अनुसार की है? स्कोप्स के ऊपर अभियोग लगाया गया था कि उसने धर्म के विरुद्ध काम किया था।

किन्तु उस युवक अध्यापक का क्या क़सूर था? उसने तो केवल उसी चीज को अपने शिष्यों के सामने दुहरा दिया था जिसे विज्ञान कई दशक पहले अकाट्य रूप से सच्चा साबित कर चुका था।

पशु जगत से मानव के ऊपर उठने-उभरने की प्रक्रिया में लाखों वर्ष लगे हैं। इस लम्बी तथा अत्यन्त जटिल प्रक्रिया की सभी अवस्थाओं में श्रम की भूमिका निर्णायक रही है। मानव के निकटतम पूर्वज अत्यन्त उच्च रूप से विकसित मानव-सम वे वानर थे जो लाखों साल पहले पाये जाते थे। वे पत्थरों और लकुटियों का इस्तेमाल कर सकते थे।

लकुटी की मदद से पेड पर लगे फल को गिराते हुए बन्दर आज भी अक्सर हमे देखने को मिल जाते हैं। हमले से अपने को बचाने के लिए कभी-कभी बन्दरों को पत्थर फेंकते हुए भी देखा जाता है।

इसलिए मात्र पत्थरों और लकुटियों का इस्तेमाल करना ऐसी विशिष्ट विशेषता नहीं हो सकती जो मानव को उसके पशु पूर्वजों से अलग कर दे।

वास्तव में, श्रम के औजारों के उत्पादन की शुरुआत ही वह विशिष्टता थी जिसने मानव को पशु जगत से अलग करना आरम्भ किया था। पत्थर या लकुटी को तो पशु उठा ले सकता था। किन्तु पत्थर को लेकर उसे हथियार या औजार की शक्ल—फिर चाहे वह कितना ही कुगढ क्यों न रहा हो—केवल मानव ही दे सकता था। केवल मानव ही उसे इस योग्य बना सकता था कि वह एक निश्चित और सचेत रूप से निर्धारित किये गये लक्ष्य को पूरा करे। पत्थर का भौंड़ा-सा चाकू भी किसी बन्दर ने आज तक तैयार नहीं किया। मानव के उद्‌गमन की, पशु जगत से उभर कर उससे उसके अलग होने की क्रिया का श्रीगणेश श्रम के औज़ारों के उत्पादन से हुआ था। श्रम के ये औजार शुरू-शुरू में अत्यन्त भद्दे और कुगढ थे।

श्रम-क्रिया के दौरान मानव शरीर के अंगों का, उनमे भी सबसे अधिक हाथ का, विकास हुआ। पूर्ण प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि मानवीय हाथ श्रम का मात्र एक अस्त्र नहीं है, बल्कि वह उसकी उत्पत्ति भी है। स्पष्ट वाणी का आविर्भाव भी श्रम से ही हुआ है। जिन दो प्रधान उद्दीपनों के प्रभाव से 'मानव-सम के मस्तिष्क ने धीरे-धीरे बदलकर मानवीय मस्तिष्क का रूप ग्रहण किया है उनमे सबसे पहले श्रम (labour) था और फिर 'स्पष्ट वाणी (articulate speech)।

वानरों के झुण्ड से आदिम मानव समाज का उदय विकास की एक लम्बी प्रक्रिया के फलस्वरूप हुआ था। वानरों के झुण्ड और आदिम कालीन मानव समाज के बीच श्रम ही फ़र्क की बुनियादी चीज था।

वानरो का झुण्ड जिस क्षेत्र मे रहता था उसमे मिलने वाली खाद्य वस्तुओं को खाकर ही वह संतुष्ट हो जाता था। खाने की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह वह भटकता रहता था। प्रकृति जितना देती थी उससे अधिक उस क्षेत्र से निकालने की क्षमता वानरों के झुण्ड में नही थी। किन्तु मानव अपने श्रम से सक्रिय रूप से प्रकृति को प्रभावित करता है। अपने प्रयत्न से अधिकाधिक मात्रा में उससे उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त करने में वह सफल होता है।

दूसरे शब्दो मे इसी बात को हम इस तरह कह सकते है कि पशु बाहरी प्रकृति का केवल इस्तेमाल करता है, किन्तु मनुष्य उसमें परिवर्तन करके धीरे-धीरे उस पर अपनी सत्ता की स्थापना करता है तथा इस सत्ता का विस्तार करके प्रकृति को मजबूर कर देता है कि वह उसकी चेरी बने, उसकी सेवा करे। मानव तथा दूसरे पशुओ के बीच *यही सबसे बड़ा अन्तर है और इस अन्तर की वजह श्रम है।* मानव की सत्ता का पूरा श्रेय उसके श्रम को है।

समाज के जीवन में श्रम का क्या स्थान है ?

मानव ही एकमात्र ऐसा जीवित प्राणी है जो श्रम की कृपा से पशु अवस्था से ऊपर उठ आने में सफल हुआ है। पशु जगत तथा मानव समाज का मौलिक और मुख्य भेद यह है कि पशु अधिक से अधिक *इस स्थिति में पहुँच जाता है कि अपने जीवन-यापन के साधनों*

को बटोरकर इकट्ठा करले, किन्तु मानव मे इतनी शक्ति होती है कि अपने जीवन के लिए आवश्यक साधनों को वह पैदा कर ले। अपनी जीविका के लिये वह ऐसे साधनों को पैदा कर लेता है जिन्हें उसकी सहायता के बिना प्रकृति अपने-आप कभी पैदा नहीं कर सकती।

मानव की बुनियादी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये किया जाने वाला उत्पादन ही लोगों की सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्यशीलता होती है। उत्पादन ही उनकी क्रियाशीलता के अन्य तमाम रूपों की भौतिक आधारशिला होता है।

श्रम मात्र एक ऐसी प्रक्रिया ही नही है जिसके जरिए मानव पशु जगत से ऊपर उठकर बाहर निकल आया है, बल्कि वह एक ऐसी प्रक्रिया भी है जो लोगों को वस्तुगत रूप से निश्चित समूहों में—विशिष्ट समाजो मे संघबद्ध कर देती है। मानव की उत्पादन सम्बन्धी क्रियाशीलता, प्रकृति के विरुद्ध उसकी जद्दोजहद, सामाजिक सम्बन्धों के किसी न किसी चौखटे के अन्दर ही सदा चलती है। इन सम्बन्धों का आधार श्रम होता है। लोगों की श्रम-सम्बन्धी क्रियाशीलता उन्हें भिन्न-भिन्न स्तरों और स्वरूपों के सामाजिक समूहों में एकताबद्ध कर देती है। इस भांति, श्रम ही वह आधार है जिस पर मानव समाज टिका हुआ है।

जीवन की आवश्यकताओं के उत्पादक के रूप में श्रम की क्या भूमिका है ?

मानव जीवन के लिये आवश्यक समस्त भौतिक तथा सांस्कृतिक धन-सम्पदाओं का उत्पादक श्रम है। जीवनावश्यक वस्तुएँ आम तौर से श्रम की उपज होती है। प्रकृति से उनमें से बहुत ही कम वस्तुएँ मानव को तैयार-शुदा हालत में प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिये,

पानी एक ऐसी चीज है जो मनुष्य को प्रकृति से मिल जाती है। किसी झरने से बहते हुये पानी को अपनी प्यास बुझाने के लिये मनुष्य मन-चाही मात्रा में पी ले सकता है। किन्तु जीवन-यापन के लिये लोगों को जिन तमाम चीजों की आवश्यकता होती है उनमें से अधिकांश की सृष्टि के लिये उसे श्रम पर ही निर्भर रहना पड़ता है। उनकी सृष्टि के लिए लोग अपने श्रम का इस्तेमाल प्रकृति द्वारा दी गयी वस्तुओं पर करते हैं। एक पुराने अर्थशास्त्री ने ठीक ही कहा है: धन-सम्पदा का पिता श्रम है, और उसकी माता पृथ्वी।

श्रम की प्रत्येक उपज में दो प्रकार के श्रम सन्निहित (मूर्त) होते हैं। एक तो वह श्रम उसमे समाविष्ट होता है जो उस वस्तु को पैदा करने में सीधे-सीधे लगाया जाता है, और दूसरा श्रम उसमें वह सन्निहित होता है जिसका इस उपज को पैदा करने के काम में इस्तेमाल किये जाने वाले उत्पादन के साधनों की रचना के लिए पहले उपयोग किया गया था। उदाहरण के लिए जूते के किसी कारखाने को ले लीजिए। उसमें बनाये जाने वाले जूते के हर जोड़े में एक तो स्वयम् उस कारखाने के मजदूरों का श्रम होता है जिसमें उसे बनाया गया है और, दूसरे, उसमें उन अनेक अन्य उद्यमों के मजदूरों का भी श्रम शामिल होता है जो चमड़ा, कोयला, विद्युतशक्ति, जूते बनाने की मशीनें तथा दूसरी बहुतेरी चीजें पैदा करते हैं। इस प्रकार हर पैदावार के अन्दर प्रत्यक्ष रूप से इस्तेमाल किया गया, जीवित श्रम तथा संचित, भौतिकीकृत (materialised) श्रम रहता है।

उत्पादन की प्रगति किस प्रकार जाहिर होती है ?

उत्पादन की प्रगति की अभिव्यक्ति श्रम की उत्पादिता

(उत्पादनशीलता) की वृद्धि के रूप में, अर्थात् उसकी फलदायकता के रूप में होती है।

श्रम की उत्पादिता श्रम-काल (labour-time) की प्रति इकाई में उत्पन्न किये जाने वाले मालों की मात्रा से निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए, उसका निर्णय इस बात से होता है कि एक घन्टे, अथवा निश्चित अवधि के काम के एक दिन मे कितना माल पैदा होता है, या फिर इस बात से कि पैदावार की एक इकाई का उत्पादन करने में कितना समय लगता है। उत्पादन की प्रक्रिया ज्यों-ज्यों उन्नत होती जाती है त्यों-त्यो पैदावार की प्रत्येक इकाई में समाविष्ट श्रम-काल की मात्रा भी कम होती जाती है। निस्सन्देह, इसका हिसाब लगाते समय श्रम के पूरे व्यय (खर्च) का अर्थात्, जीवित तथा भौतिकीकृत दोनों प्रकार के श्रमो के खर्च का ध्यान रखा जाता है।

उत्पादन का जैसे-जैसे विकास होता है और श्रम की उत्पादिता बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे किसी पैदावार में लगने वाले जीवित श्रम का अंश घटता जाता है और भौतिकीकृत श्रम का अंश सापेक्ष रूप से, अर्थात्, जीवित श्रम की तुलना मे, बढ़ता जाता है। किन्तु उसके उत्पादन मे लगने वाले कुल श्रम का योग घटता जाता है।

श्रम विभाजन की व्यवस्था का किस प्रकार विकास हुआ ?

समाज की प्रारम्भिक अवस्थाओं में मानव के श्रम की उत्पादिता बहुत कम थी, उसके औजार आदिमकालीन थे, किन्तु श्रम विभाजन के अंकुर उस समय भी दिखलाई देने लगे थे। श्रम का विभाजन तब

लिंग तथा अवस्था के अनुसार होता था। पुरुष शिकार करते थे, स्त्रियाँ खाद्य पेड़-पौधों को जमा करती थी, और बच्चे अपनी क्षमता के अनुसार इस काम में भरसक उनकी सहायता करते थे।

उत्पादन के विकास के साथ-साथ श्रम के सामाजिक विभाजन का भी सूत्रपात हुआ। लोगों की श्रम सम्बन्धी क्रियाशीलता अलग-अलग किस्मों के कामो, अथवा कामो की शाखाओं मे विभाजित हो गयी। जो स्थान फसल उगाने के अधिक अनुकूल थे वहाँ के कबीलों ने जमीन का जोतना-बोना शुरू कर दिया। अन्य स्थानों में उन्होने पशु-पालन के काम मे दक्षता प्राप्त की। दस्तकारियों के जन्म से श्रम विभाजन की क्रिया को और भी भारी प्रोत्साहन मिला। शिल्पियों (कारीगरो) ने मिट्टी के बर्तन बनाने, धातुओं पर काम करने, हथियार तैयार करने तथा आटा पीसने के काम मे निपुणता अर्जित की।

प्रौद्योगिकी की प्रगति तथा उत्पादन के साधनों के विकास के फलस्वरूप श्रम का और भी गहरा सामाजिक विभाजन हुआ। उद्योग कृषि से अलग हो गये। स्वयम् उद्योग के क्षेत्र मे नित नयी-नयी शाखाएँ पैदा होने लगी। शुरू-शुरू मे इन शाखाओं का जन्म पहले की मिली-जुली प्रक्रियाओ के अलग-अलग बँट जाने के फलस्वरूप हुआ। उदाहरण के लिए, जब मशीनें पैदा हुई तो उनके द्वारा किये जाने वाले निर्माण की एक अलग ही शाखा कायम हो गयी। भिन्न-भिन्न प्रकार की मशीनें एक ही उद्योग के अन्तर्गत पैदा की जाने लगी। मशीनो के प्रसार के साथ-साथ अविभक्त इंजीनियरिंग उद्योग के अन्दर भी अनेक स्वतन्त्र शाखाएँ पैदा हो गयी : मशीनी औजारों, उपकरणों, शक्ति (पावर), धातु-शोधन सम्बन्धी औजारों, सूती वस्तुओं, जूतों, खाद्य-पदार्थों, और खेतिहर तथा अन्य प्रकार के साज-सामानों का उत्पादन अलग-अलग एवम् स्वतन्त्र शाखाओं मे होने लगा।

उत्पादक शक्तियाँ क्या हैं ?

उत्पादन के साधनो तथा लोगो की श्रम-शक्ति के बिना उत्पादन कार्य नही किया जा सकता। ये चीजें किसी भी प्रकार के उत्पादन की वुनियादी पूर्व-आवश्यकताएँ है। उनके कुल योग को ही समाज की उत्पादक शक्तियाँ कहा जाता है।

विकास की प्रत्येक अवस्था में समाज के पास उत्पादन के कुछ साधन तथा एक निश्चित श्रम-शक्ति होती है। मानव जाति के इतिहास मे उत्पादन के साधन विकास की एक लम्बी मंजिल से गुजरे है, आदिमकालीन मानव के पत्थर और लकुटी से लेकर आधुनिक विशालकाय कारखानों तक विकास का एक अत्यन्त लम्बा मार्ग उन्होने तै किया है। उत्पादन के साधनों के साथ-साथ मानवी श्रम-शक्ति का भी विकास हुआ है।

श्रम-शक्ति का वास्तविक अर्थ मनुष्य की काम करने की क्षमता है। उसका अर्थ मनुष्य के उन शारीरिक तथा मानसिक गुणो का कुल योग है जो उसे काम करने योग्य वनाते है। मानवी श्रम-शक्ति सदा अपरिवर्तित नही रही है। आदिम-कालीन मानव, अथवा मध्य युग के किसी किसान को ही यदि वर्तमान युग की हमारी परिस्थितियो मे रख दिया जाय तो—आज के मजदूर की अपेक्षा अधिक शारीरिक शक्ति रखने पर भी—२०वीं शताब्दी की मशीनों के सामने अपने को वह सर्वथा निरुपाय अथवा असहाय महसूस करेगा। उत्पादन-क्रिया के विकास तथा उत्पादन के साधनों की उन्नति के साथ-साथ लोगों की क्षमताएँ भी विकसित होती है और उत्पादन-कार्य के सम्बन्ध में वे नये-नये कौशल प्राप्त करते हैं। शताब्दियों की बात तो बहुत दूर की चीज है, वास्तव में, कुछ दशक पूर्व भी इस अनुभव की कल्पना नही

की जा सकती थी जो आधुनिकतम मशीनो को चलाकर वर्तमान-कालीन मजदूर ने प्राप्त कर लिया है।

प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष की क्रिया ही उत्पादन है। इस सघर्ष के दौरान अधिकाधिक मात्रा मे प्रकृति को लोग अपने अधीन (वशीभूत) करते जाते हैं। उत्पादन के साधनो की उन्नति तथा श्रम-शक्ति के विकास का अर्थ होता है प्रकृति के ऊपर मानव समाज की शक्ति का विस्तार। समाज की उत्पादक शक्तियो के विकास का स्तर हर मजिल मे यह बतलाता है कि प्रकृति की शक्तियो पर मनुष्य ने किस हद तक अपना आधिपत्य कायम कर लिया है।

जैसाकि हम पहले ही देख चुके है, जीवित मानवी श्रम और, इसलिए, मनुष्य स्वय ही प्रत्येक उत्पादन क्रिया का निर्णायक तत्व होता है। काम करने वाला मनुष्य स्वयम्, उत्पादन कार्य में लगे लोगो का ठोस वर्ग ही समाज की मूल उत्पादक शक्ति होता है।

उत्पादन सम्बन्ध क्या हैं ?

उत्पादन कार्य लोग अकेले कभी नही करते। समाज से बाहर मानवी उत्पादन की क्रिया उसी तरह असम्भव है जिस तरह कि बिना साथ-साथ रहने वाले और आपस मे एक दूसरे से बातचीत करने वाले लोगो के समुदाय के किसी भाषा का विकास असम्भव है।

दो सौ वर्ष से भी अधिक पहले एक ऐसा मनोरजक उपन्यास लिखा गया था जिसे आज भी बच्चे और बालिग दोनो अत्यन्त उत्साह से पढते हैं। इस उपन्यास मे रौबिन्सन क्रूसो के साहसपूर्ण अनुभवो की कहानी बतलायी गयी है। जिस जहाज पर यात्रा के लिये वह निकला था वह सुदूर के एक महासागर मे जाकर डूब गया था।

चमत्कारवश, अकेला रौबिन्सन किसी तरह बच गया और एक रेगिस्तानी द्वीप में जा पहुंचा। एकदम अकेलेपन की हालत में रहते हुए अपने जीवन को व्यवस्थित करने के लिये सूझ-बूझ के अनेक अद्भुत करिश्मे उसने कर दिखाये। खाना प्राप्त करने के धीरे-धीरे उसने अनेक तरीके ढूंढ़ निकाले; जमीन खोदकर उसमें उसने फसलें लगायी, बकरों का शिकार किया, और फल-मूल इकट्ठे किये। अपने लिये उसने एक निवास-स्थान बनाया, कपड़े तैयार किये और मिट्टी के बर्तन भी बनाये।

सर्वथा एकाकीपन की इसी स्थिति में उसके अनेक वर्ष बीत गये। फिर एक शुभ दिन आया जिसमें फ्राईडे नामक सहायक तथा सेवक उसे मिल गया। फ्राईडे उस द्वीप का एक निवासी था जिसे रौबिन्सन ने मौत के मुंह से बचा लिया था। फ्राईडे उसका एक स्वामिभक्त गुलाम बन गया।

इस उपन्यास में मानव-जाति के अतीत काल के सम्बन्ध में कुछ विचारों को अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इन विचारों के अनुसार, पुरातन काल में लोग अकेले ही रहते थे। उन्होंने प्रकृति से लड़ना सीखा। फिर उनमें से जो अधिक बलवान तथा सामर्थ्यशाली थे उन्होंने अपने से निर्बल तथा कम विकसित लोगों को गुलाम बना लिया। मालिकों और दासों का जन्म इसी प्रकार हुआ था। अट्ठारहवीं शताब्दी के कुछ विचारकों की मानव समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ ऐसी ही धारणा थी। किन्तु उपन्यास में जो बात इतनी मनोरंजक लगती है वह वैज्ञानिक व्याख्या की कसौटी पर सर्वथा अग्राह्य है। वास्तव में, मानव जाति के शैशवकाल का रौबिन्सन क्रूसो के जीवन के साथ किसी भी प्रकार साम्य नहीं था।

आदिमकालीन मानव, इस बात के बावजूद कि आज के मानवों

की अपेक्षा शारीरिक रूप से वह कहीं अधिक बलशाली होता था, अपने इर्द-गिर्द की प्रकृति के सम्मुख निर्बल तथा असहाय होता था। हर कदम पर उसके लिए भयंकर खतरे रहते थे। पृथ्वी पर उन दिनों शिकार करने वाले विशालकाय पशु विचरण करते थे। खुदाई में इन पशुओं की अस्थियां जगह-जगह पायी गयी हैं। तलवार जैसे तेज दांतों वाले उन भयावह तेंदुओं अथवा महाकाय गैंडों का मनुष्य किस प्रकार मुकाबला कर सकता था? ऐसी हालत मे बचाव का एक ही रास्ता था—कि लोग मिल-जुल कर सामूहिक रूप से जीवन बितायें। यही कारण है कि उन दिनों लोग अकेले कभी नहीं रहते थे। वे सदा सम्मिलित समुदायों मे ही रहते और काम करते थे।

ऐतिहासिक विकास की सभी अवस्थाओं में उत्पादन का स्वरूप सामाजिक था। उत्पादन कार्य कमोवेश बड़े-बड़े समाज, अर्थात् लोगों के समूह मिल-जुलकर संयुक्त रूप से ही करते थे। जब लोग उत्पादन करते हैं तब उनके बीच कुछ न कुछ सम्बन्ध भी कायम हो जाते हैं। इन्हीं सम्बन्धों को उत्पादन के सम्बन्ध, अथवा उत्पादन की क्रिया में लगे लोगों के सम्बन्ध कहा जाता है।

समाज में लोगों के उत्पादन सम्बन्ध अव्यवस्थित (यानी एकदम ऊल-जलूल) नहीं होते, बल्कि वे एक निश्चित व्यवस्था का रूप ले लेते हैं। समाज यदि पूंजीपतियों द्वारा मजदूरी करने वाले श्रमजीवियों के श्रम के शोषण की व्यवस्था पर आधारित है तो सविश्वास कहा जा सकता है कि उक्त समाज में मुद्रा के परिचलन, बैंकों, स्टॉक-एक्सचेन्ज (सट्टा बाज़ार), आदि की व्यवस्था विकसित हो चुकी होगी। प्रत्येक उत्पादन सम्बन्ध दूसरे तदनुरूप उत्पादन सम्बन्धों से जुड़ा होता है और सब मिलकर वे एक निश्चित अविभक्त व्यवस्था का निर्माण करते हैं।

उत्पादन सम्बन्धों की प्रत्येक व्यवस्था में निर्णायक स्थान समाज के मूल वर्गों के बीच के उत्पादन सम्बन्धों का होता है। उदाहरण के लिए, पूँजीवदी व्यवस्था मे पूँजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग के आपसी सम्बन्ध ही निर्णायक स्थान रखते है।

उत्पादन सम्बन्धों के पूर्ण योग से समाज के आर्थिक ढांचे का निर्माण होता है। इसी ढांचे के ऊपर फिर कानूनी तथा राजनीतिक ऊपरी ढांचा (superstructure) खड़ा होता है, और उसी के अनुरूप सामाजिक चेतना के निश्चित रूप बनते है। समाज में प्रचलित उत्पादन सम्बन्धों की व्यवस्था ही उक्त समाज का आर्थिक ढांचा कहलाती है। जब हम सामन्तवाद, पूँजीवाद अथवा समाजवाद के आर्थिक ढांचे की बात करते हैं तब उससे हमारा मतलब इसी चीज से होता है।

समाज की उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धो के बीच क्या सम्बन्ध है ?

समाज की उत्पादक शक्तियां ही वह आधार है जिसके ऊपर उत्पादन के निश्चित सम्बन्ध कायम तथा विकसित होते है। उत्पादन के सम्बन्ध किसी रिक्त स्थान में, किसी सामाजिक शून्य में नही लोगों के बीच बनते और विकसित होते है। इसके विपरीत, उनका उदय और विकास समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास की एक निश्चित अवस्था में ही होता है।

उत्पादन सम्बन्धों के पैदा हो जाने के बाद वे उत्पादक शक्तियों के विकास को अत्यधिक प्रभावित करते है।

मानव-जाति के इतिहास में हम देखते है कि समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास की एक निश्चित अवस्था में उत्पन्न होने वाले

उत्पादन के निश्चित सम्बन्ध कुछ समय तक तो उक्त उत्पादक शक्तियों का आगे विकास करते है। फिर उत्पादक शक्तियाँ उक्त उत्पादन सम्बन्धों की सीमाओं से परे निकल जाती हैं। और तब आवश्यक हो जाता है कि उत्पादन के ये पुराने सम्बन्ध, जो उत्पादक शक्तियों के विकास के मार्ग में रोड़ा बन गये है, रास्ते से हट जायें और उनके स्थान पर ऐसे नये उत्पादन सम्बन्ध कायम हो जो उत्पादक शक्तियों के आगे विकास का मार्ग उन्मुक्त कर दें। उत्पादन सम्बन्धों को एक किस्म से उत्पादन सम्बन्धों की दूसरी क़िस्म की ओर संक्रमण एक सामाजिक क्रान्ति के फलस्वरूप होता है। सामाजिक क्रान्ति उत्पादन के पुराने अव्यवहार्य सम्बन्धों का अन्त कर देती है और उनके स्थान पर नये, उच्चतर किस्म के ऐसे उत्पादन सम्बन्धों के विकास का मार्ग खोल देती है जो उत्पादक शक्तियों के उच्चतर विकास-स्तर के अनुरूप होते है।

उत्पादन का तरीक़ा किसे कहते हैं ?

उत्पादन के तरीक़े के अन्तर्गत समाज की उत्पादक शक्तियाँ तथा लोगों के उत्पादन सम्बन्ध—दोनों ही चीजें आ जाती है। उत्पादन के किसी निश्चित तरीके की बात जब हम करते है तब हमारे ध्यान में मानव समाज के विकास की उस अवस्था में पायी जाने वाली उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादक सम्बन्धों का चित्र होता है। उत्पादन के पूंजीवादी तरीके, उत्पादन के समाजवादी तरीके, आदि की भी जब हम बात करते हैं तो यह भी इसी अर्थ में करते हैं।

"उत्पादन के तरीक़े" शब्दों का इस्तेमाल करने के साथ-साथ मार्क्सवादी एक और पद (term) का भी इस्तेमाल करते हैं—

"सामाजिक-आर्थिक संरचना" का। "सामाजिक-आर्थिक संरचना" से आमतौर से तत्सम्बन्धित समाज में प्रचलित मात्र उत्पादन के तरीक़े का अर्थ नहीं लगाया जाता; इसके विपरीत, उसके अन्तर्गत उन तमाम विशिष्ट विशेषताओं तथा फर्कों का वह कुल योग भी आ जाता है जो समाज के उक्त स्वरूप को उसके अन्य किसी भी स्वरूप से भिन्न बनाता है। उसके अन्तर्गत सम्बधित समाज की आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था, उसमें प्रचलित विचारधारा, आदि सब चीजें भी आ जाती हैं।

इतिहास में उत्पादन के कौन-कौन से मुख्य तरीक़े हुए हैं ?

इतिहास में अब तक उत्पादन के पाच मुख्य तरीक़े हुए है : आदिम साम्यवादी, दासवादी, सामन्तवादी, पूंजीवादी तथा समाजवादी।

आदिम साम्यवादी समाज वर्गों की उत्पत्ति से पहले का समाज था। दास समाज, सामन्ती समाज तथा पूंजीवादी समाज मानव द्वारा मानव के शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था के विभिन्न रूप हैं। समाजवादी व्यवस्था ही एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमें मानव द्वारा मानव का शोषण करने की प्रणाली का अन्त कर दिया जाता है।

मानव द्वारा मानव के शोषण का सार क्या है ?

मानव द्वारा मानव के शोषण का यह अर्थ होता है कि कुछ लोग दूसरों की कमाई पर मजे उड़ाने लगते है: स्वयम् उत्पादन करने वाले लोगों द्वारा पैदा की गयी अतिरिक्त पैदावार को शोषकों का वर्ग

हड़प लेता है। मेहनतकश जनता के जीवन-यापन के लिए आवश्यक श्रम की न्यूनतम पैदावार के अलावा जितनी भी अतिरिक्त पैदावार होती है वही शोषकों की बेकमाई (अनुपार्जित) आमदनी बन जाती है।

शोषक समाज के तीन मुख्य स्वरूपों—दास समाज, सामन्ती समाज तथा पूंजीवादी समाज—के बीच मुख्य फ़र्क यह होता है कि उत्पादन के साधनों के मालिकों तथा प्रत्यक्ष उत्पादकों के बीच, अर्थात्, उत्पादन के साधनों के स्वामियों तथा समाज की समस्त धन-सम्पदा की सृष्टि करनेवाले मेहनतकश जन-समुदायों के बीच जो सम्बन्ध होते हैं वे उनमें से प्रत्येक में अलग-अलग प्रकार के होते हैं। शोषकों के वर्ग तथा शोषितों के वर्ग के बीच का सम्बन्ध ही इनमें से प्रत्येक समाज का मूल उत्पादन सम्बन्ध (basic production relation) होता है।

दास-प्रथा, सामन्ती प्रथा तथा पूंजीवाद—मेहनतकश जनता की आर्थिक दासता की ये तीन क्रमिक अवस्थाएं हैं। इन तीनों स्वरूपों की सामान्य विशेषता यह है कि उनके उत्पादन तथा उनमें मौजूद जीवन की भौतिक परिस्थितियों पर किसी न किसी रूप में प्रभुत्वशाली वर्ग का ही नियंत्रण रहता है: आम जन-समुदायों को प्रभुत्वशाली वर्ग मजबूर करता है कि वे उसके लिए मेहनत-मशक्कत करें। मानव द्वारा मानव के शोषण का अर्थ यही होता है कि शोषक वर्ग शोषित वर्ग के अतिरिक्त श्रम को हड़पकर उसका स्वामी बन जाता है।

क्या मानव द्वारा मानव का शोषण हमेशा से चलता आया है?

प्राचीन रोम में उत्पीड़कों के ख़िलाफ़ उत्पीड़ितों ने जब विद्रोह

कर दिया था तो शासक वर्ग के एक हिमायती ने वहाँ के लोगों को निम्न नीति-कथा सुनाई थी। उसने कहा था : यह समाज मानव-शरीर के समान है। मानव शरीर में एक मस्तिष्क होता है जो उसके अन्य समस्त अंगों का निर्देशन-संचालन करता है, उसमें हाथ होते है जो तमाम काम करते है, और उसके एक पेट होता है जो खाना पचाता है। यही स्थिति मानव समाज की है। इसलिए उसमे भी एक तरफ़ तो ऐसे लोग होने चाहिए जो हर तरह का काम करते हैं और, दूसरी तरफ, वे लोग जो समस्त दूसरे लोगों पर शासन करते है और उनके श्रम के फल का उपभोग करते है!

किन्तु आदिम समाज का इतिहास बतलाता है कि यह बात सर्वथा निराधार है। लाखो वर्ष तक मानवजाति में न वर्ग विभाजन था, न वर्ग शोषण, और न उत्पीड़न। लोग मिल-जुलकर काम करते थे और मेहनत-मशक्कत से जो अल्प आहार प्राप्त करते थे उसका मिलजुल कर ही उपभोग करते थे। मानव श्रम से तब अतिरिक्त पैदावार नही उत्पन्न होती थी। कुछ लोग यदि दूसरो की कमाई के मत्थे रहने का प्रयत्न करते तो फिर वे दूसरे लोग जिन्दा ही न रह सकते।

मानव द्वारा मानव के शोषण की व्यवस्था का जन्म आदिम समाज के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद वास्तव मे तभी हुआ था जब लोगो के श्रम से उनके जिन्दा रहने के लिए आवश्यक न्यूनतम पैदावार के अलावा कुछ अतिरिक्त उत्पत्ति भी होने लगी थी। किन्तु शोषण कोई शाश्वत, अर्थात् सदा से चली आयी वस्तु कदापि नही है। इतिहास का सम्पूर्ण क्रम इस बात का साक्षी है कि पूंजीवादी समाज व्यवस्था ही मानव द्वारा मानव के शोषण पर आधारित अन्तिम सामाजिक व्यवस्था है। पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ इस व्यवस्था के असाध्य अन्तर्विरोध भी अनिवार्य रूप से बढ़ते और गहरे होते जाते हैं।

सर्वहारा वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग का वर्ग विरोध तो खासतौर से बढ़ता जाता है।

सामाजिक विकास-क्रम को संचालित करनेवाले नियम स्वयम् निश्चित कर देते है कि पूंजीवाद का विनाश ऐतिहासिक रूप से अवश्यम्भावी है। ये नियम बतलाते है कि एक ऐसी सामाजिक क्रान्ति का होना अनिवार्य है जो पूंजीपति वर्ग की सत्ता को उलट देगी और मजदूर वर्ग का ऐतिहासिक लक्ष्य भी यही है कि वह एक ऐसे नये, समाजवादी समाज का निर्माण करे जिसमें मानव द्वारा मानव के शोषण की कही गन्ध तक न रह जाय।

ऐतिहासिक क्रम मे प्रकृति के ऊपर अपनी सत्ता का मानव जाति ने विराट विस्तार कर लिया है। इसके बावजूद, उन देशों मे जिनकी सामाजिक व्यवस्था मानव द्वारा मानव के शोषण की प्रणाली पर आधारित है, मेहनतकश जनता को वहाँ के अन्यायपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों के जोर-जुल्म के नीचे ही रहना पड़ता है। प्रकृति के ऊपर मनुष्य की बढ़ती हुई सत्ता से जो लाभ होते है उनका उपभोग करने से पूंजीवादी देशों की आबादी के विशाल बहुमत को ये सम्बन्ध रोकते हैं। सोवियत संघ तथा अन्य समाजवादी देशों की परिस्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। उनमे मानव-प्रगति के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले समस्त फल सम्पूर्ण जनता की सम्पत्ति होते है और, इसलिए, प्रकृति पर आधिपत्य क़ायम करने के प्रत्येक नये कदम से उसी का लाभ होता है।

उत्पादन के तरीक़े मे होनेवाले परिवर्तनों के पीछे कौन चीज़ होती है ?

उत्पादन के तरीकों का विकास समाज की उत्पादक शक्तियों की

वृद्धि से होता है। समाज की उत्पादक शक्तियों की वृद्धि का अर्थ प्रकृति के ऊपर मनुष्य की सत्ता का विस्तार होता है। उत्पादक शक्तियों का बढ़ाव ही वह आधार है जिसके कारण उत्पादन के तरीके का विकास होता है और एक तरीके के स्थान पर दूसरे, अधिक प्रगतिशील तरीके का प्रचलन होता है।

उत्पादक शक्तियों के विकास-क्रम मे आदिम समाज का स्तर सबसे नीचा था। आदिम मानव प्रकृति से जूझने की दिक्कतों और कठिनाइयों के बोझ से पूर्णतया दबा रहता था। जब फसलें बोई जाने लगी और एक ही जगह रहकर पशु-पालन करने की व्यवस्था का जन्म हो गया तो आदिम समाज का ढाचा टूट गया और उसके स्थान पर दास प्रथा पर आधारित समाज का प्रादुर्भाव हुआ।

दास समाज की उत्पादक शक्तियाँ आधुनिक दृष्टिकोण से यद्यपि अत्यन्त पिछड़ी हुई थी, फिर भी, आदिमकालीन युग की तुलना मे वे कही अधिक उन्नत हो चुकी थीं। पत्थर के औजारों का स्थान धातुओं के—मुख्यतया लोहे के बने औजारो ने ले लिया। दस्तकारियों का जन्म हुआ; धीरे-धीरे ही सही, किन्तु खेती की भी तरक्की हुई। परन्तु, उत्पादक शक्तियों के आगे विकास के मार्ग मे पराधीन दासों का श्रम बाधक था।

दास समाज का स्थान जब सामन्ती व्यवस्था ने लिया तो उत्पादक शक्तियों की प्रगति के लिए कुछ और अधिक गुंजाइश पैदा हुई। अर्ध गुलाम किसान गुलाम से भिन्न था; अपने श्रम के फल मे किसी हद तक उसकी भी दिलचस्पी थी। सामन्ती युग के दौरान प्रकृति पर मानव सत्ता का कुछ और विस्तार हुआ, यद्यपि इसकी क्रिया बहुत धीमी थी। सामन्ती युग का अन्त काल आते-आते मालों का विनिमय होने लगा, विदेशो के साथ व्यापार आरम्भ हो गया, और ऐसे कस्बे

पैदा हो गये जिनके निवासी दस्तकारियों तथा व्यापार के काम करते थे। फिर सामन्ती सम्बन्ध भी नयी उत्पादक शक्तियों के विकास के मार्ग में रोड़ा बन गये। पूंजीवादी क्रान्ति ने उन्हें मिटाकर समाप्त कर दिया।

पूंजीवादी व्यवस्था ने उत्पादक शक्तियों की तेजी से वृद्धि शुरू कर दी। प्राचीन काल मे इतनी वृद्धि की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। डेढ़-दो सौ वर्षों के भीतर ही प्रकृति के ऊपर मनुष्य की सत्ता का जबर्दस्त विस्तार हो गया। मशीनों मे चलने वाले बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों का आविर्भाव हुआ। वे तेजी से फैलने लगे। १९वीं सदी भाप की सदी बन गयी। वर्तमान शताब्दी के नजदीक पहुंचते-पहुंचते विद्युत शक्ति का और भी अधिक व्यापक पैमाने पर इस्तेमाल होने लगा। भाप तथा बिजली और उनसे चलने वाली अनेक मशीनों के इस्तेमाल से मानव श्रम का बोझ बहुत हल्का हो गया और उसकी उत्पादिता बढ़ गयी। किन्तु, पूंजीवादी समाज के अन्तर्गत प्रौद्योगिक प्रगति से होने वाले समस्त फ़ायदों के साथ-साथ तमाम धन-सम्पदा को पैदा करने वाले लोगों का—यानी मेहनतकश जनता का शोषण तथा उनकी असुरक्षा की मात्रा भी कहीं अधिक बढ़ गयी। समाज की बुनियादी उत्पादक शक्ति के साथ, अर्थात् जन-शक्ति के साथ पूंजीवाद अत्यन्त क्रूर तथा लोलुपतापूर्ण व्यवहार करता है। प्रकृति के ऊपर मनुष्य की सत्ता के भावी विस्तार के मार्ग मे पूंजीवाद भी अब एक रोड़ा बन गया है।

सामाजिक प्रगति के मार्ग में बाधक पूंजीवादी सम्बन्धों का अन्त समाजवादी क्रान्ति करती है। उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्धों का अन्त करके और उनके स्थान पर समाजवादी सम्बन्धों की प्राण-प्रतिष्ठा करके, समाजवादी क्रान्ति प्रकृति के ऊपर मनुष्य की सत्ता के निस्सीम विस्तार का मार्ग उन्मुक्त कर देती है। दुनिया आज एक

नयी प्रौद्योगिक क्रान्ति के द्वार पर खड़ी है। आण्विक ऊर्जा का शान्ति-पूर्ण उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा है, उत्पादन की समस्त क्रियाओं को यंत्र-चालित तथा स्वयं-चालित बनाया जा रहा है, रासायनिक उत्पादन का, विशेष रूप से बहुलकी (polymeric) पदार्थों के उत्पादन का व्यापक पैमाने पर विकास हो रहा है—ये तमाम चीजें उत्पादक शक्तियों के विकास की एक नयी अवस्था की सूचक हैं। प्रौद्योगिकी का विकास करने, श्रम को हल्का बनाने, समाज की धन-सम्पदा की अभिवृद्धि करने, तथा लोगों के रहन-सहन को तेजी से ऊपर उठाने की सचमुच ही असीम सम्भावनाएँ पैदा होती जा रही हैं। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की अद्भुत उपलब्धियों का उपयोग शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए, इन्सान की भलाई के लिए करने मे जर्जर पूजीवाद सर्वथा असमर्थ है—यह बात अब अधिकाधिक स्पष्ट रूप से ज़ाहिर होती जा रही है। इस कार्य को केवल समाजवाद ही कर सकता है।

इस भांति, सामाजिक विकास की प्राकृतिक प्रक्रिया सरल से संश्लिष्ट की ओर, निम्नतर से उच्चतर की ओर आगे बढने वाली गति का रूप ले लेती है। प्रत्येक सामाजिक-आर्थिक सरचना (Socio-economic formation) समाज के आर्थिक विकास-क्रम में एक निश्चित अवस्था होती है, और इनमें से प्रत्येक अवस्था पहले की अवस्था से अधिक ऊँची होती है। आदिमकालीन समाज जब टूटा और समाज दास व्यवस्था की ओर बढा तो यह आगे की ओर ले जाने वाला एक कदम था। सामन्तवाद की जगह जब पूजीवाद ने ली, तो पूजीवादी व्यवस्था भी एक प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था थी। अपने ऐतिहासिक उद्देश्य को पूरा कर चुकने के बाद पूंजीवाद अब समाज की भावी प्रगति के मार्ग में अधिकाधिक मात्रा मे ब्रेक का, एक रुकावट का काम कर रहा है। अस्तु, पूंजीवाद की जगह समाज

का एक नया, उच्चतर स्वरूप, समाजवादी स्वरूप लेता जा रहा है। समाजवाद, साम्यवाद (कम्युनिज्म) की पहली मंजिल है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु क्या है ?

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, राजनीतिक अर्थशास्त्र उत्पादन की सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता है। इस विज्ञान की विषय-वस्तु का अब हम और अधिक स्पष्ट रूप से निरूपण कर सकते है : उत्पादन की सामाजिक व्यवस्था उन उत्पादन सम्बन्धों का पूर्ण योग होती है जो सामाजिक विकास की प्रत्येक निश्चित अवस्था मे लोगो के बीच उत्पन्न हो जाते है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र लोगों के उत्पादन सम्बन्धों का अध्ययन करता है, किन्तु इसका मतलब यह कदापि नही होता कि उत्पादक शक्तियों के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नही है। उत्पादन सम्बन्धो के विकास तथा परिवर्तन के सिलसिले मे, एक प्रकार के उत्पादन सम्बन्धों की जगह दूसरे प्रकार के उत्पादन सम्बन्धो की स्थापना के सिलसिले मे उत्पादक शक्तियो की बहुत भारी भूमिका होती है। वास्तव मे, उत्पादन सम्बन्धों के उदय और विकास के क्रम को उत्पादक शक्तियाँ ही निर्धारित करती है। फिर, उत्पादन सम्बन्धो का प्रत्येक स्वरूप उत्पादक शक्तियों के विकास पर खुद भी जबर्दस्त प्रभाव डालता है।

उन उत्पादक शक्तियों के स्वरूप मे, जिन्होने उत्पादन सम्बन्धो को पैदा किया है और जो उन सम्बन्धो की सीमाओ के अन्दर स्वयं अपना विकास करती हैं, यदि हम अपने को बिल्कुल अलग कर लें तो उत्पादन सम्बन्धों की असलियत को सन्तोषपूर्ण ढंग से कभी नही

समझ सकेंगे। उदाहरण के लिए, अगर उस अन्तर्विरोध को हम अन-देखा कर दें जो पूंजीवादी समाज के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्धों के बीच पाया जाता है तो पूंजीवाद के उत्पादन सम्बन्धों को कभी भी ठीक से नहीं समझा जा सकेगा; और न हम समाजवाद के उत्पादन सम्बन्धों को ही कभी अच्छी तरह समझ सकेंगे यदि हम उस भूमिका को भुला दें जो समाजवादी समाज की उत्पादक शक्तियों को विकसित करने की प्रक्रिया में वे अदा करते हैं। इस प्रकार, राजनीतिक अर्थशास्त्र उत्पादन सम्बन्धों को उत्पादक शक्तियों के अविभाज्य संदर्भ में रखकर ही उनका अध्ययन करता है।

सामाजिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भौतिक सम्पदा के उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था को अभिशासित करने वाले नियमों को स्पष्ट करके--राजनीतिक अर्थशास्त्र मानव समाज के इतिहास की सम्पूर्ण बहुमुखी प्रक्रिया को समझने की कुंजी प्रस्तुत कर देता है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र पूंजीवादी समाज में चलने वाले वर्ग संघर्ष के सबसे ज्वलन्त प्रश्नों पर विचार करता है। वह उन तमाम मामलों पर विचार करता है जिनका विभिन्न वर्गों की भौतिक परिस्थितियों के साथ सीधा सम्बन्ध है। वह पूंजीवादी समाज के मूल वर्गों के बुनि-यादी हितों पर प्रभाव डालता है। वास्तव में, वह इस समाज के अस्तित्व तक की समस्या को उठाता और उसके हल का मार्ग बतलाता है।

इसी कारण राजनीतिक अर्थशास्त्र एक वर्ग विज्ञान है, एक पक्ष-धर विज्ञान है। आर्थिक जीवन के घटना-प्रवाहों की—उनकी समग्र जटिलता तथा अनेकरूपता में--मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र मजदूर वर्ग के दृष्टिकोण से वैज्ञानिक व्याख्या करता है। सर्वहारा वर्ग के वर्ग हित और समाज के प्रगतिशील विकास के हित अभिन्न हैं।

यही कारण है कि सामाजिक विकास को शासित करने वाले नियमों की सर्वथा सही तथा पूर्ण जानकारी प्राप्त करने से मजदूर वर्ग डरता नहीं है, बल्कि इस तरह की जानकारी को प्राप्त करने में उसकी हार्दिक दिलचस्पी होती है।

मार्क्सवाद ने राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आमूल क्रान्ति कर दी है। उसने इस विज्ञान के मूल आधारों में भी—उसकी विषय-वस्तु की समझदारी तक में क्रान्ति कर दी है। मार्क्सवाद से पहले के राजनीतिक अर्थशास्त्री माल, मुद्रा, पूंजी, मुनाफ़ा, लगान, आदि जैसे साक्षात् आर्थिक विषयों को मात्र वस्तुओं के बीच के सम्बन्ध मानते थे, वे उन्हें वस्तुओं के ही गुण-धर्म समझते थे। मार्क्सवाद ने सिद्ध कर दिया है कि यह दृष्टिकोण अशुद्ध है। पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों को जहाँ केवल वस्तुओं के बीच सम्बन्ध दिखलाई देते थे वहाँ मार्क्स ने दिखला दिया कि वास्तव में वे सम्बन्ध लोगों के बीच के सम्बन्ध हैं। लोगों के उत्पादन सम्बन्ध ही दरअसल उन आर्थिक घटना-प्रवाहों का मूल-तत्व हैं जिनका राजनीतिक अर्थशास्त्र अध्ययन करता है।

हमारे युग के लिए राजनीतिक अर्थशास्त्र का क्या महत्व है?

पूंजीवाद के आर्थिक नियमों को प्रकट करके राजनीतिक अर्थशास्त्र न केवल इस समाज के अस्तित्व की परिस्थितियों को उजागर कर देता है, बल्कि उसके विकास की दिशा को भी स्पष्ट कर देता है। इस तरह, राजनीतिक अर्थशास्त्र पूंजीवादी समाज के अन्दर चलने वाले वर्ग संघर्ष के असली आधारों को उघाड़ कर सामने रख देता है और मजदूर वर्ग को बतला देता है कि समाजवाद की ओर बढ़ने का कौन

मार्ग है। पूंजीवादी समाज के आर्थिक विकास को शासित करने वाले नियमों की खोज ही वह वस्तु है जिसने इस बात को वैज्ञानिक रूप से तथा अत्यन्त गहराई के साथ सिद्ध कर दिया है कि पूंजीवाद का पतन तथा समाजवाद की विजय ऐतिहासिक रूप से अवश्यम्भावी हैं।

राजनीतिक अर्थशास्त्र जाहिर करता है कि पूंजीवाद समाज की आगे प्रगति के मार्ग मे किस प्रकार एक बाधा बन गया है। आज के इजारेदारी पूंजीवाद ने पूजीवादी व्यवस्था के समस्त अन्तर्विरोधो को और भी अधिक तेज़ कर दिया है।

साथ ही साथ, राजनीतिक अर्थशास्त्र यह भी जाहिर करता है कि पुरानी जीर्ण-शीर्ण पूंजीवादी व्यवस्था की जगह लेने के लिए समाजवाद, जोकि पूंजीवाद की तुलना मे सामाजिक व्यवस्था का कही बेहतर और उच्चतर रूप है, किस प्रकार आगे आ रहा है। जिस तरह पूंजीवाद के पतन का फैसला सामाजिक विकास के वस्तुगत आर्थिक नियम करते है, उसी तरह समाजवाद की विजय को भी वही सुनिश्चित बनाते हैं।

राजनीतिक अर्थशास्त्र यह भी ज़ाहिर करता है कि पूंजीवाद की तुलना मे समाजवाद की निर्णयकारी श्रेष्ठता स्वयं आर्थिक नियम ने पूर्व-निर्धारित कर दी है। पूंजीवाद के आर्थिक नियमो के स्वरूप तथा उनकी अन्तर्वस्तु का पता लगाकर, राजनीतिक अर्थशास्त्र इस बात को स्पष्ट कर देता है कि ऐतिहासिक रूप मे पूंजीवादी व्यवस्था का विनाश होना और उसकी जगह समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का होना अनिवार्य है। समाजवाद के आर्थिक नियमों के स्वरूप (nature) तथा उनकी अन्तर्वस्तु (content) को प्रतिपादित करके, राजनीतिक अर्थशास्त्र इस बात को सिद्ध कर देता है कि पूंजीवाद के साथ आर्थिक

प्रतियोगिता में समाजवाद की विजय नियम-अभिशासित (law governed) ऐतिहासिक प्रक्रिया के सर्वथा अनुरूप तथा अवश्यम्भावी है।

आर्थिक प्रवर्ग (category) किसे कहते हैं ?

राजनीतिक अर्थशास्त्र आर्थिक जीवन से सम्बन्धित घटना-प्रवाहों (phenomena of economic life) का अध्ययन करता है। इनमे से प्रत्येक घटना-प्रवाह का अपना खास लक्षण, उसका अपना खास वैशिष्ट्य होता है। साथ ही, घटना-प्रवाहो के बड़े-बड़े समूहो मे भी एक जैसे निश्चित लक्षण देखने को मिलते है। उदाहरण के लिए, मालों के अनगिनत विनिमयों को देखने के बाद, विज्ञान उन सामान्य लक्षणो को निर्धारित कर देता है जो एक आर्थिक घटना-प्रवाह के रूप में माल की अपनी विशेषता होते है। विभिन्न कालों तथा विभिन्न कौमों में प्रचलित मुद्राओं तथा उनके परिचलन से सम्बन्धित आँकड़ो के अम्बारों का अध्ययन करके, विज्ञान उन सामान्य लक्षणों को निर्धारित कर देता है जो किसी भी मुद्रा में स्वाभाविक रूप से पाये जाते हैं। इसलिए, राजनीतिक अर्थशास्त्र प्रत्येक आर्थिक घटना-प्रवाह का उसके सामान्यीकृत (generalised) रूप मे अध्ययन करता है।

आर्थिक घटना-प्रवाहों की वे सामान्यीकृत अभिव्यजनाएँ (generlised expressions) जिन पर राजनीतिक अर्थशास्त्र विचार करता है आर्थिक प्रवर्ग कहलाती हैं। उदाहरण के लिए, जब हम मुद्रा के प्रवर्ग (category of money) की बात करते हैं तब हमारे दिमाग में मुद्रा की कोई निश्चित धनराशि, अथवा कोई खास प्रकार की मुद्रा नहीं होती। ऐसे समय हम उन लक्षणों तथा विशिष्टताओं की ही

बात करते हैं जो सहज रूप से, अपने तमाम ठोस प्रतिरूपों (concrete types) और स्वरूपों के साथ मुद्रा मे पायी जाती है। एक ऐसे विशेष आर्थिक प्रवर्ग के रूप में जोकि, मिसाल के लिए, माल अथवा पूँजी से भिन्न होता है, मुद्रा के सामान्य लक्षणों को निश्चित करने के बाद फिर राजनीतिक अर्थशास्त्र मुद्रा के प्रमुख प्रतिरूपों तथा स्वरूपों का विश्लेषण करता है और इनमें से प्रत्येक प्रतिरूप के विशिष्ट गुण-धर्मो को निर्धारित करता है।

मार्क्सवाद बतलाता है कि आर्थिक प्रवर्ग लोगो के बीच पाये जाने वाले उत्पादन सम्बन्धो की सैद्धान्तिक अभिव्यंजना के अतिरिक्त और कुछ नही होते। मिसाल के लिए, पूजीवादी अर्थशास्त्री कहते है कि पूँजी इमारतों, साजो-सामान, मशीनों, कच्चे माल के भण्डारो, आदि, आदि वस्तुओ का एक निश्चित योगफल होती है। मार्क्सवाद इस बात को नही मानता। वह कहता है कि ये तमाम वस्तुएँ उत्पादन की साधन है, केवल किन्ही खास सामाजिक सम्बन्धो के अन्तर्गत ही, अर्थात्, केवल उन सामाजिक सम्बन्धो के अन्तर्गत ही जबकि वे निजी मालिकों की सम्पत्ति होती है और उनके द्वारा उनका इस्तेमाल मजदूरी पर काम करने वाले मेहनतकशों का शोषण करने के लिए किया जाता है—वे पूंजी का मूर्त रूप धारण करती हैं। पूँजी कोई वस्तु नही है, बल्कि एक सामाजिक सम्बन्ध है—इस चीज की स्थापना इसी प्रकार की गयी थी। पूँजी शोषण करने वाले पूजीपतियों तथा मजदूरी पर काम करने वाले उन मेहनतकशों के बीच का सामाजिक सम्बन्ध है जिनका वे शोषण करते है। इन सामाजिक सम्बन्ध का वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। यही सम्बन्ध वस्तुओं में, अर्थात्, उत्पादन के साधनों मे मूर्तमान होता है। स्वयम् कोई वस्तु वह नही होता।

आर्थिक प्रवर्ग क्या अपरिवर्तनीय हैं ?

नही, आर्थिक प्रवर्ग न तो अपरिवर्तनीय है, न सनातन। ऐतिहासिक रूप से वे भी उसी प्रकार अचिरस्थायी हैं जिस प्रकार कि उत्पादन के वे सम्बन्ध जिनको वे अभिव्यक्त करते है।

आर्थिक प्रवर्गों का स्वरूप ऐतिहासिक दृष्टि से अचिरस्थायी है— इस सत्य का सर्वप्रथम मार्क्सवाद के संस्थापकों ने उद्घाटन किया था। राजनीतिक *अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे मार्क्स और एंगेल्स* ने जो क्रान्ति की है यह खोज उसका एक मूल अंग है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में मार्क्सवाद से पहले मूल्य, मजदूरी, पूंजी तथा पूंजीवाद के अन्य इसी तरह के आर्थिक प्रवर्गों को अपरिवर्तनीय तथा शाश्वत माना जाता था। मार्क्सवाद के पूर्ववर्तियों के मतानुसार ये प्रवर्ग किसी भी समाज में अनिवार्य रूप से मौजूद होते है। ये अर्थशास्त्री काफी पढे-लिखे थे और उन्हे जानना चाहिए था कि किसी समय ऐसा भी एक समाज था जिसमे न मुनाफा था, न पूंजी, और न मजदूरी। निस्सन्देह, वे इसको जानते थे। किन्तु उन्होंने कहा कि समाज की वह व्यवस्था एक आदिम व्यवस्था थी, इसलिए उस पर विचार ही नही किया जा सकता! उनके अनुसार समाज के वास्तविक विकास का श्रीगणेश पूंजीवाद तथा उसमे अन्तर्निहित सम्बन्धों के उदय तथा विकास से ही हुआ था। शुरू के पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों की यही धारणा थी।

पूंजीवादी व्यवस्था तथा उसमें अन्तर्निहित आर्थिक प्रवर्ग शाश्वत तथा स्वाभाविक वस्तुएँ है—इस धारणा की संकीर्णता एवम् भ्रामकता को केवल मार्क्सवाद ही पूरे तौर से स्पष्ट कर सकता था—वह मार्क्सवाद जिसका जन्म पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध मजदूर वर्ग के संघर्ष की

अपरिहार्य आवश्यकताओं के फलस्वरूप हुआ था।

आर्थिक नियम किसे कहते हैं ?

आर्थिक विज्ञान का मुख्य कार्य उन आर्थिक नियमों को स्पष्ट करना है जो समाज के विकास-क्रम को अधिशासित करते है।

विज्ञानों की सहायता से लोग अपने इर्द-गिर्द की दुनिया की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इस दुनिया में प्रकृति तथा सामाजिक जीवन दोनों ही होते है। प्रकृति अथवा सामाजिक जीवन के किसी भी क्षेत्र का अध्ययन करने वाला उस क्षेत्र में काम करने वाले नियमों का पता लगाने की कोशिश करता है। विज्ञान की भाषा में घटना-प्रवाहों के आन्तरिक सम्बन्ध को, उनके मूल तत्व को ही नियम कहा जाता है। बाह्य जगत का जो ज्ञान मानव प्राप्त करता है उससे उसे इस जगत को—पूरे तौर से तथा इसके अलग-अलग समस्त अंगों-प्रत्यंगों को—सचालित करने वाले नियमो की अधिकाधिक पूर्ण तथा व्यापक जानकारी होती जाती है। प्रकृति के नियमों के इस ज्ञान से प्रकृति की अन्धी शक्तियो को वशीभूत करने तथा अपने हित मे उनका उपयोग करने का एक सबल अस्त्र मानव के हाथ मे आ जाता है। और सामाजिक जीवन मे काम करने वाले नियमो की खोज से मानवो को अपने व्यावहारिक काम के लिए एक ठोस आधार मिल जाता है—फिर अपने काम को वे इन नियमो के ज्ञान के अनुसार सचालित कर सकते हैं।

आर्थिक प्रक्रियाओ तथा घटना-प्रवाहो के मूलभूत आन्तरिक सम्बन्ध को ही आर्थिक नियम कहा जाता है। आर्थिक विज्ञान द्वारा स्थापित किये गये नियम आर्थिक जीवन के घटना-प्रवाहों के आन्तरिक

सम्बन्ध को, उनके उस अन्तर्सम्बन्ध को प्रतिबिम्बित करते हैं जो किन्हीं खास परिस्थितियों मे पाया जाता है।

आर्थिक नियमों का स्वरूप क्या होता है ?

आर्थिक नियमों का स्वरूप वस्तुगत होता है। इसका अर्थ यह है कि उनका अस्तित्व लोगों की इच्छा तथा चेतना से स्वतंत्र होता है। इससे भी अधिक, लोगों की इच्छा, चेतना तथा अभिप्राय पर निर्भर होने के बजाय, ये नियम स्वयम् उनकी इच्छा, चेतना तथा अभिप्रायों को निर्धारित करते है।

आर्थिक नियमों का चरित्र ऐतिहासिक होता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध ऐतिहासिक, अर्थात्, सतत परिवर्तनशील सामग्री से होता है। मूलत: एक ऐतिहासिक विज्ञान होने के कारण, राजनीतिक अर्थशास्त्र सबसे पहले उत्पादन के प्रत्येक तरीके के विशिष्ट नियमों का अध्ययन करता है; साथ ही साथ वह उन सामान्य नियमों का भी अध्ययन करता है जो उत्पादन के सभी तरीकों पर लागू होते हैं। अस्तु, इस मान्यता का कि समाज के विकास-क्रम को सुनिश्चित आम आर्थिक नियम अधिशासित करते हैं—विज्ञान-विरोधी उस समझ से रत्तीभर भी सम्बन्ध नहीं है जो कहती है कि पूंजीवाद के आर्थिक नियम समाज के शाश्वत तथा अपरिवर्तनीय नियम हैं।

निश्चित सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं (Socio-economic formations) से सम्बन्धित आर्थिक नियमों का स्वरूप ऐतिहासिक रूप से क्षणभंगुर होता है : वे एक निश्चित ऐतिहासिक काल मे काम करते है, उसके बाद उनकी जगह दूसरे नियम ले लेते हैं। इस प्रकार के नियमो के स्थान पर दूसरे प्रकार के नियमों की स्थापना का अनुक्रम

(succession) विकास की वस्तुगत प्रक्रिया का परिणाम होता है। आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने पर पुराने नियम भी बेकार हो जाते हैं और नयी आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर नये आर्थिक नियमों का जन्म होता है।

उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के मूलतत्व क्या हैं ?

उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के अन्तर्गत स्वय उत्पादन, अर्थात् उपज का निर्माण करने के कार्य में लगे लोगों की प्रत्यक्ष क्रियाशीलता के साथ-साथ वितरण, विनिमय तथा उपभोग के अन्य तत्व भी आ जाते हैं।

किसी भी पैदावार के तैयार हो जाने के बाद उसके वितरण, विनिमय तथा उपभोग के प्रश्न उठते है। उत्पादन, वितरण तथा उपभोग की व्यवस्था समाज के सभी स्वरूपों में पायी जाती है; किन्तु प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था (natural economy) मे—जिसमे उत्पादित वस्तुएँ उसी ढंग से उपभोग मे लायी जाती है जिस ढंग से वे पैदा की जाती हैं—विनिमय का अभाव होता है। राजनीतिक अर्थशास्त्र उपभोग का उसकी सामाजिक भूमिका के रूप में अध्ययन करता है, वह उसके सामाजिक पक्ष का, अर्थात्, सामाजिक सम्बन्धो के उस पक्ष का अध्ययन करता है जो लोगों, उनके समुदायों तथा वर्गों द्वारा किये जाने वाले उपभोग के स्वरूप को निर्धारित करता है।

उपभोग कितने प्रकार का होता है ?

समाज में जितनी चीजें पैदा होती है उनका लक्ष्य लोगों की

जरूरतों को पूरा करना होता है। किन्तु इस उद्देश्य को उत्पादित वस्तुएँ भिन्न-भिन्न तरीक़ो से पूरा करती है : कुछ चीज़ों का सीधे-सीधे उपभोग हो जाता है, *अन्य चीजों का उत्पादन के साधनो के रूप मे उपभोग* किया जाता है। इस भाँति, समस्त उत्पादित वस्तुएँ— उत्पादन के साधनों तथा उपभोग की वस्तुओ की दो श्रेणियो मे बँट जाती है। उत्पादित वस्तु का स्वरूप स्वयम् ही अधिकांश वस्तुओ के उद्देश्य को पहले से निर्धारित कर देता है। उदाहरण के लिए, मशीनें— वे चाहे जिस तरह की हों—केवल उत्पादन के साधनो का ही काम दे सकती हैं, किन्तु कपड़े, जूते तथा रोटी जैसी चीजें केवल उपभोग के काम मे आ सकती है। लेकिन कुछ उत्पादित वस्तुएँ ऐसी भी होती हैं जिनका इस्तेमाल सीधे-सीधे उपभोग, अथवा उत्पादन दोनों ही के लिए किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, कोयले और बिजली को ले लीजिए : इनका इस्तेमाल घरों को गर्म और रौशन करने क़े काम मे किया जा सकता है और क़ारखानो की मशीनों को चलाने के काम मे भी।

इसी के अनुरूप, उपभोग की भी दो अलग-अलग किस्में हो जाती है। एक किस्म सीधे उपभोग (direct consumption) की होती है: इसमे वस्तुओ का इस्तेमाल सीधे-सीधे समाज मे सदस्यों की विभिन्न जरूरतों की पूर्ति के लिए किया जाता है। दूसरी किस्म उत्पादक उपभोग (productive consumption) की होती है : इसमे वस्तुओ का इस्तेमाल उत्पादन मे और वृद्धि करने के लिए, किसी न किसी *तरह के उत्पादन के साधनों के रूप मे किया जाता है।*

वितरण के कितने रूप होते हैं ?

उत्पादित की जाने वाली वस्तुओं का व्यक्तियों, समूहों तथा वर्गों

के दरम्यान वितरण होता है। किन्तु सम्बन्धित समाज के अन्दर उत्पादन के साधनों का बँटवारा इस वितरण से पहले ही हो चुका होता है। उदाहरण के लिए, पूँजीवादी समाज में उत्पादन के साधनों का बंटवारा इस प्रकार होता है कि उनकी इजारेदारी कायम हो जाती है, अर्थात्, उनके ऊपर पूँजीपतियों के एक छोटे से गुट का एकछत्र राज्य स्थापित हो जाता है और आबादी के विशाल बहुमत के पास उत्पादन के कोई भी साधन नहीं रह जाते। समाजवाद में इसका उल्टा होता है: उसमें उत्पादन के समस्त साधन पूरे समाज की सम्पत्ति होते हैं।

उत्पादित वस्तुओं का बटवारा किस तरह होता है यह चीज उत्पादन के साधनों के बंटवारे के स्वरूप पर पूर्णतया निर्भर करती है। पूंजीवादी समाज में उत्पादित माल उत्पादन के साधनों के मालिकों के हाथ में चला जाता है, और मेहनतकश जनता का जीवन सर्वथा अरक्षित तथा कष्टपूर्ण रहता है। समाजवादी समाज में उत्पादित वस्तुएँ पूरे समाज अथवा मेहनतकश जनता की सामूहिक संस्थाओं के अधिकार में होती हैं और उनका वितरण आम जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने तथा समाजवादी उत्पादन का निरन्तर विस्तार करते जाने की दृष्टि से किया जाता है।

उत्पादन, वितरण, विनिमय तथा उपभोग के बीच क्या सम्बन्ध होता है?

उत्पादन, विनिमय, वितरण और उपभोग की क्रियाएँ एक दूसरे से विलग कोई स्वतन्त्र क्रियाएँ नहीं हैं। वे सब सामाजिक उत्पादन की एक ही अविच्छिन्न प्रक्रिया की अलग-अलग शाखाएँ या तत्व हैं।

सम्पूर्ण बहुमुखी आर्थिक जीवन का मूल आधार उत्पादन है।

सबसे पहले जरूरी होता है कि चीज का उत्पादन किया जाय; उसका विनिमय, वितरण तथा उपभोग केवल उसके बाद ही हो सकता है। विनिमय और वितरण की क्रियाएँ उत्पादन और उपभोग की क्रियाओं के बीच की कड़ियाँ या क्रियाएँ हैं। उपभोग उत्पादित वस्तु की अन्तिम परिणति है। उत्पादन-कार्य उत्पादित वस्तुओं के विनिमय के बिना भी हो सकता है; किन्तु विनिमय का कार्य उत्पादन के बिना नहीं हो सकता। वितरण तथा उपभोग प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था मे होता है, किन्तु उत्पादन के सामाजिक स्वरूप के अनुसार वितरण और उपभोग का स्वरूप बदल जाता है।

अन्य तत्वों के बीच मुख्य, निर्णायक भूमिका उत्पादन अदा करता है। किन्तु इससे यह नतीजा निकालना कि इन अन्य तत्वों का उत्पादन की क्रिया मे कोई महत्व नही है, गलत होगा। सामाजिक उत्पादन की सम्पूर्ण अविच्छिन्न प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों के बीच एक अन्तर्सम्बन्ध (interconnection) होता है। इस अन्योन्य क्रिया (interaction) में निर्णायक भूमिका सदैव उत्पादन ही अदा करता है।

किसी निश्चित सामाजिक स्वरूप के अन्तर्गत भौतिक उत्पादन की क्रिया ही राजनीतिक अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु होती है। अन्य प्रक्रियाओ के स्वरूप को भी उत्पादन के सामाजिक नियम ही निर्धारित करते है। उदाहरण के लिए, उत्पादन कार्य यदि पूंजीवादी रूप मे किया जाता है तो पैदावार का विनिमय पूंजीवादी बाजार के नियमों के अनुसार होता है। उसका वितरण भी पूंजीवादी शोषण के उन नियमों के अनुसार होता है जिनके अन्तर्गत मजदूर वर्ग के उपभोग की मात्रा मजदूरी के निम्न स्तर, बेकारी, आदि से परिसीमित रहती हैं। स्वयम्स्फूर्त, असगठित विनिमय की बुनियाद उत्पादन के साधनो के निजी स्वामित्व की व्यवस्था पर आधारित समाज का श्रम-विभाजन

होता है। मेहनतकश जनता कितना और किस रूप मे उपभोग करती है यह चीज उत्पादन की क्रिया मे उसकी अधीनस्थ भूमिका से निर्धारित होती है।

इस प्रकार उत्पादन की क्रिया ही सम्पूर्ण आर्थिक जीवन का मूल आधार है। उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपभोग एक पूरी क्रिया के अलग-अलग अंग है। इस पूरी क्रिया मे उत्पादन ही स्वय अपने ऊपर तथा दूसरे तत्वो के ऊपर हावी होता है। समाज मे प्रमुख (निर्णायक) भूमिका उत्पादन की होती है—यह सिद्धान्त ही मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की आधारशिला है।

आर्थिक जीवन के अन्य पक्षो के सन्दर्भ मे उत्पादन की भूमिका को निर्णायक मानने का अर्थ उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा उपभोग के बीच चलनेवाली अन्योन्यक्रिया की उपेक्षा करना कदापि नही होता। इस समझदारी ने कि उत्पादन ही मुख्य चीज है इन समस्त पक्षों के अन्तरसम्बन्ध (inter-connection) के वास्तविक स्वरूप की जानकारी हासिल करने में एक कुंजी का काम किया है। इसके विपरीत, यदि इस बात को अनदेखा कर दिया जाय कि उत्पादन ही मुख्य चीज है और इसके स्थान पर आर्थिक जीवन के अन्य किसी पक्ष को—वितरण, विनिमय अथवा उपभोग को—प्रमुख स्थान पर रख दिया जाय तो इसका मतलब आर्थिक घटना-प्रवाहो की सही समझदारी प्राप्त करने के मार्ग मे अवरोध पैदा कर देना होगा।

राजनीतिक अर्थशास्त्र के उन अनेक अवैज्ञानिक सिद्धान्तों की विफलता और निस्सारता ने जो उपभोग, विनिमय अथवा वितरण को मुख्य आधार मानकर चलते है—इस चीज को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। इस तरह की चीजो का सहारा लेकर पूंजीवादी अर्थशास्त्री दरअसल पूंजीवाद के वर्ग-विरोधो तथा वर्ग-सघर्ष पर आधारित

वास्तविक उत्पादन सम्बन्धो का विश्लेषण करने से कतराते हैं। विनिमय, वितरण अथवा उपभोग को बुनियादी चीज़ करार देनेवाली समस्त धारणाएँ पूँजीवाद को रग-चुन कर पेश करने और उसकी असगतियों पर पर्दा डालने का ही काम करती हैं।

राजनीतिक अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु को समझने में उत्पादन की निर्णायक भूमिका का क्या महत्व है ?

चूँकि उत्पादन का तरीका ही विनिमय तथा वितरण के स्वरूप को निर्धारित करता है, इसलिए उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करते समय राजनीतिक अर्थशास्त्र साथ ही साथ वितरण तथा विनिमय के सम्बन्धो का भी अध्ययन करता है।

राजनीतिक अर्थशास्त्र उन नियमो का विज्ञान है जो मानव समाज के ऐतिहासिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में उसके अन्दर चलने वाली उत्पादन तथा विनिमय की प्रक्रियाओं को संचालित करते हैं। वह विभिन्न मानव समाजों के अन्तर्गत उत्पादित वस्तुओं के उत्पादन तथा विनिमय की दशाओ तथा स्वरूपों का और इन उत्पादित वस्तुओं के वितरण के तदनुरूप तरीकों का विज्ञान है।

सामाजिक उत्पादन के विकासशील ऐतिहासिक तरीको के विज्ञान की हैसियत से राजनीतिक अर्थशास्त्र सामाजिक अर्थव्यवस्था की विभिन्न प्रणालियों की बुनियादी धारणाओं का तथा उनमें से प्रत्येक प्रणाली के बुनियादी लक्षणो का निरूपण करता है।

उत्पादन की निर्णायक भूमिका को स्वीकार करके तथा उसके आधार पर सम्पूर्ण मानव इतिहास का विश्लेषण करके मार्क्सवादी

राजनीतिक अर्थशास्त्र ने सही-सही बतला दिया कि आर्थिक इतिहास किन कालों मे बँटा हुआ है। उसने बतलाया कि मानव जाति का सम्पूर्ण आर्थिक इतिहास सामाजिक विकास की पाँच मूलभूत अवस्थाओं मे विभाजित है। इन अवस्थाओं पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

मानव जाति के आर्थिक विकास के कालों को पूँजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र एक दूसरे ही तरीके से विभाजित करने की चेष्टा करता है। उदाहरण के लिए, राजनीतिक अर्थशास्त्र के तथाकथित "ऐतिहासिक मतवादियों" का कहना है कि मानव जाति के आर्थिक विकास की तीन अवस्थाएँ है: प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था की अवस्था, मुद्रा पर आधारित अर्थ-व्यवस्था की अवस्था तथा उधार पर आधारित अर्थ-व्यवस्था की अवस्था।

इस तरह के काल-निर्धारण का आधार उत्पादन का विकास नहीं, बल्कि विनिमय का विकास है। प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था वह होती है जिसमे विनिमय नही होता और मुद्रा पर आधारित अर्थ-व्यवस्था वह जिसमें मुद्रा की सहायता से चलने वाले विनिमय की प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक विकसित होती है। अन्त में, उधार पर आधारित अर्थ-व्यवस्था वह अर्थ-व्यवस्था होती है जो विकास की एक ऐसी मंजिल मे पहुँच गयी है जिसमे विनिमय का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत तथा गहरा होता जाता है। इसके फलस्वरूप, उधार के सम्बन्ध कायम हो जाते हैं तथा उधार लेन-देन का चलन आरम्भ हो जाता है।

कालों की इस विभाजन-पद्धति का इस्तेमाल करके पूँजीवादी विज्ञान प्रत्येक काल के वास्तविक विशिष्ट लक्षणों पर लीपा-पोती करने तथा उत्पादन के ढाँचे और उत्पादन के सामाजिक सम्बन्धों के असली स्वरूप पर पर्दा डालने की चेष्टा करता है।

अर्थ-व्यवस्था का रूप केवल प्राकृतिक, मुद्रा पर आधारित, अथवा उधार पर आधारित हो सकता है—इस चीज को कहने का मतलब, वास्तव में, उत्पादन के मूल विशिष्ट लक्षण को, उत्पादन सम्बन्धों की व्यवस्था के मूलभूत विशिष्ट लक्षण को अनदेखा कर देना होता है। इससे फिर यह नही स्पष्ट हो सकता कि उत्पादन प्रणाली शोषण के नियमों पर आधारित है, अथवा उसमे शोषण के लिए कतई कोई जगह नहीं है; समाज की उत्पादन व्यवस्था वास्तव में दासों के श्रम के शोषण पर आधारित है, अथवा मजदूरों के श्रम के शोषण पर, इत्यादि।

मुद्रा और उधार पर आधारित अर्थ-व्यवस्थाएँ, जैसा कि लोगों को मालूम है, पूँजीवादी और समाजवादी दोनों ही समाज व्यवस्थाओं के अन्तर्गत मिलती हैं।

मानव जाति के आर्थिक इतिहास के काल-विभाजन के लिए विनिमय के किसी रूप को आधार के रूप मे प्रस्तुत करके, "ऐतिहासिक स्कूल" के अनुयायी समाजवाद और पूँजीवाद के बुनियादी फ़र्क के ऊपर पर्दा डाल देना चाहते हैं—अर्थात् इस बात को वे छिपा देना चाहते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में शोषण होता है और समाजवादी समाज व्यवस्था में शोषण के लिए ज़रा भी स्थान नहीं है।

इस भाँति, उत्पादन की निर्णायक भूमिका को समझ लेने से शोध-कर्ता के हाथ मे एक ऐसा विश्वसनीय कुतुबनुमा आ जाता है जिसमे मानव जाति के आर्थिक विकास के लम्बे इतिहास को समझने मे उसे सहायता मिलती है। उसकी मदद से उन कारणों तथा प्रेरक शक्तियों की जानकारी उसे प्राप्त हो जाती है जो इस विकास-क्रम को आगे बढ़ाते हैं। उससे उसे इस बात का भी पता चल जाता है कि भविष्य में मानव जाति के विकास की क्या दिशा होगी।

२. पूँजीवाद की आर्थिक व्यवस्था

पूंजीवाद का जन्म कैसे हुआ ?

कुछ अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध में निम्न कहानी सुनाते हैं। वे कहते हैं कि बहुत दिन हुए जब दुनिया में भिन्न-भिन्न रुचियों के लोग रहते थे। उनमें से कुछ मेहनती तथा मितव्ययी (किफायतशार) थे, और कुछ काहिल तथा खाऊ-उडाऊ ! जो मेहनती और मितव्ययी थे उन्होंने धीरे-धीरे धन-सम्पत्ति इकट्ठा कर ली, और काहिल तथा उड़ाऊ लोग सम्पत्ति-विहीन ही बने रहे। धनी और गरीब में, पूंजीपतियों और मजदूरों में—समाज का इसी तरह बँटवारा हुआ था !

इस तरह की कपोल-कल्पित कथाओं का वास्तविक इतिहास से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि पूंजीवाद का उदय एक दूसरी शोषण व्यवस्था, अर्थात सामन्ती व्यवस्था के गर्भ से, उसीके स्थान पर हुआ था। पूंजीवादी समाज के विकास का श्रीगणेश मालों के छोटे पैमाने के उत्पादन तथा इससे जुड़ी हुई उस प्रतियोगिता से हुआ था जो कुछ लोगों को तबाह कर देती है और कुछ दूसरों को धनाढ्य बना देती है।

उन छोटे उत्पादकों (small producers) की अर्थ-व्यवस्था को जो अपने श्रम से पैदा की गयीं वस्तुओं की अदला-बदली (विनिमय) कर लेते हैं—मालों के उत्पादन की सरल व्यवस्था (simple commodity production) कहा जाता है। इस व्यवस्था और पूंजीवादी व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण चीज समान होती है : पूंजीवादी व्यवस्था

की ही तरह यह व्यवस्था भी उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व की प्रणाली पर आधारित होती है। इसी वजह से, अनिवार्य रूप से, उसके गर्भ से पूंजीवाद का जन्म होता है।

साथ ही, मालों के उत्पादन की सरल व्यवस्था तथा पूंजीवादी उत्पादन-व्यवस्था के बीच एक बुनियादी फ़र्क भी होता है। मालों के उत्पादन की सरल व्यवस्था का आधार माल के उन छोटे-छोटे उत्पादकों का व्यक्तिगत श्रम होता है जो उत्पादन के समस्त साधनों के मालिक होते हैं; इसके विपरीत, पूंजीवाद का आधार मजदूरी करने वाले ऐसे मज़दूरों का श्रम होता है जिनके पास उत्पादन के कोई भी साधन नहीं होते और जिनका इन साधनों के स्वामी, अर्थात् पूंजीपति शोषण करते हैं। पूंजीवाद ज्यों-ज्यों विकसित होता जाता है त्यों-त्यों मालों के सरल उत्पादकों को मैदान से खदेड़कर वह उन्हें अपने अधीन बनाता जाता है। वह उन्हें मज़दूरी पर काम करने वाले मजदूरों में बदल देता है।

शोषकों की राजसत्ता ने, शोषितों के ऊपर दमन करने की शासक वर्गों की मशीन ने भी पूंजीवाद के इतिहास में एक खास भूमिका अदा की है। सामन्ती व्यवस्था के विघटन के दिनों में पूंजीवाद के जन्म और विकास के लिए उपयुक्त परिस्थितियां अत्यन्त जघन्य तरीकों से पैदा की गयी थीं। इस काम के लिए लूट-पाट, ज़ोर-ज़बर्दस्ती, धोखाधड़ी तथा मक्कारी के हर संभव तरीके का इस्तेमाल किया गया था। इन्हीं तरीकों के ज़रिए लोगों को हराया और गुलाम बनाया गया था।

पूंजीवाद का किन परिस्थितियों में उदय हुआ था ?

पूंजीवाद के अस्तित्व के लिए दो विरोधी वर्गों का, पूंजीपति वर्ग

और सर्वहारा वर्ग का होना आवश्यक होता है। इसमें एक तरफ तो वे मुट्ठी भर लोग होते हैं जो सारी धन-सम्पदा के, उत्पादन के समस्त साधनों के स्वामी होते है; और, दूसरी तरफ, समस्त सम्पत्ति से वंचित उन लोगों का जन-समुदाय होता है जिनके पास न उत्पादन के साधन होते हैं, न जीवन-निर्वाह का कोई अन्य जरिया।

इसलिए, पूँजीवाद के उदय के लिए दो बुनियादी चीज़ों की आवश्यकता होती है: (१) एक तो समस्त धन-सम्पदा चन्द लोगों के हाथ में इकट्ठा (संचित) हो जाना चाहिए, और, (२) दूसरे, सम्पत्ति-विहीन ऐसे लोगों का एक जन-समुदाय पैदा हो जाना चाहिए जो व्यक्तिगत रूप से आज़ाद होते है, किन्तु जिनके पास न तो उत्पादन के कोई साधन होते है और न जीविका चलाने का कोई और ज़रिया—और इसलिए वे इस बात के लिए मजबूर होते हैं कि अपनी श्रम-शक्ति को दूसरों के हाथ बेचें।

जहाँ पूंजीवादी व्यवस्था कायम हो चुकी है वहाँ का समाज, इस व्यवस्था के आर्थिक नियमों की वजह से, अनिवार्य रूप से विरोधी वर्गों में बँट गया है। इस व्यवस्था के आर्थिक नियमों के कारण पूंजीपति अधिकाधिक धनी होते जाते हैं और मजदूर वर्ग दिनों दिन अधिक गरीब होता जाता है। किन्तु सम्पत्ति के स्वामी पूंजीपतियों तथा सम्पत्ति-विहीन सर्वहारा वर्ग के अस्तित्व की बुनियाद पर ही पूँजीवादी उत्पादन का श्रीगणेश होता है। पूंजीवाद के लिए आवश्यक ऐतिहासिक परिस्थितियों की सृष्टि एक ऐसी क्रिया के माध्यम से होती है जिसे पूंजी के आदिम संचय की क्रिया (primitive accumulation of capital) कहा जाता है। इस क्रिया को आदिम संचय की क्रिया इसलिए कहा जाता है कि यह पूंजीवादी संचय से पहले की क्रिया है।

मजदूरी करने वाले मजदूरों का वर्ग कैसे पैदा हुआ?

पूँजीवाद के विकास से पहले, सामन्ती युग में, उत्पादन कार्य किसान और दस्तकार किया करते थे। तब खेती ही मुख्य धन्धा था और जमीन ही उत्पादन का मुख्य साधन थी। किसान जमीन से बँधे रहते थे और भूस्वामी उनका शोषण करते थे। हल, हँसिया तथा पशु जैसे कुछ साधारण औजार ही किसान की सम्पत्ति होते थे। सामन्तवादी समाज की बुनियाद ऐसे काश्तकारो (उत्पादकों) का शोषण था जो व्यक्तिगत रूप से पराधीन होते हुए भी उत्पादन के साधनों, और खास तौर से जमीन के स्वामी होते थे। भूमि का पट्टा किसान पुश्तैनी रूप मे प्राप्त कर सकते थे। उत्पादक (यानी काश्तकार) मजूरी करने वाले मजदूर तभी बन सकते थे जब सीधी वैयक्तिक निर्भरता से वे मुक्त हो जाते। पूंजीवादी दासता के बन्धनो में बंधने से पहले आवश्यक था कि सामन्ती दासता के बन्धनो से वे मुक्त हो जाते।

कुछ अर्थशास्त्री प्रश्न के केवल इसी पहलू का जिक्र करते है। वे पूंजीवाद की प्रशंसा करते है, क्योकि अर्ध-दासता की व्यवस्था का उसने अन्त कर दिया है और पूंजीवादी व्यवस्था की, जोकि आजादी और न्याय की व्यवस्था है, घोषणा कर दी है। किन्तु, प्रश्न के दूसरे पहलू की तरफ से जान-बूझकर वे आँखें बन्द कर लेते हैं।

कोई भी उत्पादक तभी श्रमजीवी मजदूर बनता है जब उत्पादन के समस्त साधनो से उसे "मुक्त" कर दिया जाता है, जब स्वतत्र रूप से काम करने की सम्भावना से वह एकदम वंचित हो जाता है। इसलिए पूंजीवाद के लिए आवश्यक होता है कि उत्पादकों से उत्पादन के उन साधनो को वह छीन ले जो सामन्ती व्यवस्था में उनके पास थे।

असली उत्पादकों से उत्पादन के साधनों को छीन लिया गया था, और किसानों से उनकी जमीन का अपहरण कर लिया गया था—यही आदिम सचय की सम्पूर्ण प्रक्रिया का आधार था। सामन्तवाद के विघटन के दिनों में, एक देश के बाद दूसरे देश में अर्द्ध-दासता की प्रथा का अन्त कर दिया गया था। किन्तु, सामन्ती पराधीनता से किसानों की मुक्ति के साथ-साथ, एक और चीज को भी "मुक्ति" मिल गयी थी जो कम महत्वपूर्ण न थी : किसानों को उस जमीन से "मुक्त" कर दिया गया था जिस पर वे रहते और खेती-बारी करते थे। भूस्वामियों की मातहती में जिस जमीन से वे अपनी जीविका कमाते थे उसके केवल एक हिस्से को ही किसानों के पास छोड़ दिया गया था (और वह भी अधिकांशतया उनको मुक्त करने के लिए)। "अतिरिक्त" लोगों ने देहातों को छोड दिया। उनसे पूंजीपतियों के लिए श्रमजीवी मजदूरों की फ़ौज तैयार हुई।

प्रारम्भिक पूंजीवाद को जिस प्रक्रिया के द्वारा काम करने के लिए आज़ाद मजदूर प्राप्त हुए थे उसका यही आम रूप था। अलग-अलग देशों में यह क्रिया अलग-अलग तरीक़ों से घटित हुई थी। किन्तु उसकी मुख्य दिशा तथा उसका मूल तत्व सब जगह एक ही था।

ज़ोर-जबर्दस्ती और लूट-खसोट के जिन तरीकों से किसानों को बेजमीन और बेघर-बार करके सर्वहारा बना दिया गया था उन्हीं के द्वारा विशाल भू-सम्पत्ति इकट्ठी करके मुट्ठीभर लोगों ने उसे अपने हाथों में कर लिया था।

पूंजी की उत्पत्ति कैसे हुई ?

किन्तु पूंजीवादी उत्पादन के विकास के लिए इतना ही काफ़ी न था। आवश्यकता इस बात की थी कि मुद्रा के रूप में थोड़े-से लोगों

के हाथ मे विशाल मात्रा में ऐसा धन जमा हो जाय जिसे, विनिमय के द्वारा, वे चाहे जब बआसानी उत्पादन के किन्हीं भी साधनों तथा उपकरणो मे बदल लें।

थोड़े-से लोगो के हाथों में विशाल धन-राशियों के इकट्ठा होने की प्रक्रिया को महान् भौगोलिक खोजों के युग में (अर्थात् १५वीं और १६वीं शताब्दियों मे) अत्यधिक बल मिला था। अमरीका की खोज होते ही धन की तलाश करने वालों की भीड़ें उसकी तरफ़ दौड़ पड़ी थी। अमरीका मे सोने और चांदी का सुराग मिल जाने के बाद उस पर टूट पडने वालों का हुजूम खास तौर से बढ़ गया था। योरोपीय राज्यों ने अभियान भेजने शुरू कर दिये थे। इन अभियानों ने अनेक धन-धान्यपूर्ण देशों को लूट-पाट कर तबाह कर दिया। इन देशो का एकमात्र अपराध यह था कि उनमे बहुमूल्य धातुएँ पायी जाती थी।

अनमान औपनिवेशिक व्यापार भी पूंजी के आदिम सचय का एक मुख्य साधन था। भारत के साथ, जो उस समय एक समृद्ध देश था, व्यापार करने के लिए डच, ब्रिटिश और फ़ान्सीसी लोगों ने ख़ास ईस्ट इंडिया कम्पनियाँ क़ायम की थी। इन कम्पनियों को उनके देशों की सरकारों का समर्थन प्राप्त था। उन्हे औपनिवेशिक मालों के व्यापार की इजारेदारी दे दी गयी थी।

सागर-पार के फलते-फूलते समृद्ध देशो की लूट-खसोट योरोपीय पूंजी के आदिम संचय का एक सबसे बड़ा साधन थी। दूसरे देशों की इस लूट-खसोट मे इंगलैण्ड सबसे आगे था। पराये देशों की निर्लज्ज लूट-खसोट और उपनिवेशों की संगठित डाकेजनी के द्वारा पहले ब्रिटिश पूंजीपतियों ने और फिर फ़ान्सीसी पूंजीपतियों ने शताब्दियों तक अकूत

धन-राशियाँ संचित की थी। राजसत्ता हर जगह कुछ थोड़े से लोगों को इस बात में मदद देती थी कि वे विशाल धन-सम्पत्ति इकट्ठा कर लें।

पूँजीवाद के अध्ययन में माल के विश्लेषण की क्या भूमिका है ?

पूँजीवाद का जन्म १४वीं शताब्दी में हो गया था, किन्तु उसके विकास में तेज़ी १९वी शताब्दी के नज़दीक पहुँच कर ही आयी थी।

पूँजीवादी समाज मे मालों का अधिकांश बेचने के लिए पैदा किया जाता है। जो चीज़ सीधे-सीधे उपभोग के लिए नहीं, बल्कि विनिमय के लिए, बाजार मे बेचने के लिए, तैयार की जाती है उसे राजनीतिक अर्थशास्त्र मे "माल" कहा जाता है। विनिमय के, बिक्री के उद्देश्य से किये जाने वाले उत्पादन को मालों का उत्पादन कहा जाता है। यह उत्पादन उस प्राकृतिक उत्पादन मे भिन्न होता है जिसमें श्रम की पैदावारों का उसी घरेलू अर्थ-व्यवस्था के अन्दर उपभोग कर लिया जाता है जिसमे उन्हे तैयार किया जाता है।

विज्ञान के सामने सामाजिक जीवन की एक जटिल पूरी तस्वीर उपस्थित होने के कारण सबसे पहले वह सबसे सरल सम्बन्धों को ही ढूंढ निकालने की चेष्टा करता है।

पूँजीवादी समाज में सबसे सरल सम्बन्ध मालों के विनिमय का है। इसी वजह से आर्थिक विज्ञान पूँजीवाद का अध्ययन माल के विश्लेषण से शुरू करता है। इस सरलतम घटना-प्रवाह के अन्दर,

उत्पादन के पूंजीवादी तरीक़े की इस "कोशिका" (cell) के अन्दर, पूंजीवादी समाज की तमाम असंगतियों के बीज इस विश्लेषण के माध्यम से साफ़-साफ़ स्पष्ट हो जाते हैं। फिर, उसमें इस समाज के विकास तथा आदि से अन्त तक उसकी समस्त असंगतियों का क्रम भी स्पष्ट हो जाता है।

मालों के उत्पादन की व्यवस्था के उदय के लिए किन चीज़ों की ज़रूरत होती है ?

मालों के उत्पादन की व्यवस्था का जन्म तथा विकास समाज में हुए श्रम-विभाजन के ही आधार पर होता है। किन्तु इस प्रकार का श्रम-विभाजन तो मालों के उत्पादन की व्यवस्था के पैदा होने से पहले भी पाया जाता था। अनेक आदिम समुदायों में सामाजिक श्रम-विभाजन की व्यवस्था विकसित हो चुकी थी। प्रत्येक समुदाय में कारीगर : लोहार, कुम्हार, आटा पीसनेवाले, आदि होते थे। ये कारीगर लोक समाज की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। इसके उपलक्ष में समाज उनका खर्चा उठाता था और उन्हें खेतों की पैदावार देता था।

प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था को मालों की अर्थ-व्यवस्था में बदलने के लिए, श्रम-विभाजन के अलावा एक और अत्यन्त महत्वपूर्ण चीज़ की ज़रूरत थी। यह चीज़ थी उत्पादन के साधनों की निजी मिल्कियत। जब कोई कारीगर समुदाय का सदस्य नहीं रह जाता और उत्पादन के अपने साधनों का स्वयं मालिक बन जाता है, तब वह अपने श्रम की पैदावारों को खुद ही बेचने लगता है।

अस्तु, मालों के उत्पादन की व्यवस्था की शुरुआत के लिए दो

चीजों की जरूरत होती है : (१) सामाजिक श्रम-विभाजन की तथा, (२) उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व की।

माल के क्या गुण होते हैं ?

माल होने के लिए श्रम की किसी भी पैदावार के लिए सबसे पहले यह जरूरी होता है कि वह किसी मानवी आवश्यकता की पूर्ति करे। इसकी वजह से श्रम की पैदावार उपयोगी बनती है। श्रम की प्रत्येक पैदावार का यह गुण उसे उपयोग मूल्य में परिवर्तित कर देता है।

गोश्त या दूध का उपयोग मूल्य इस बात में निहित होता है कि श्रम की ये पैदावारें लोगों की खाने की आवश्यकता की पूर्ति करती है। किसी कपडे, ओवरकोट, अथवा जूतों का उपयोग मूल्य इस बात में होता है कि वे लोगों की कपड़े और जूते की जरूरतों को पूरा करते है। अनेक ऐसी भी वस्तुओं का उपयोग मूल्य होता है जो मानव श्रम की उपज नहीं होती। उदाहरण के लिए, झरने से बहता पानी, जंगली पेड़ों के फल, आदि ऐसी ही वस्तुएँ है।

श्रम की पैदावारें निश्चित मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं। यह प्राकृतिक तथा मालों की दोनों ही अर्थ-व्यवस्थाओं में होता है। किसान अपने उपयोग के लिए जो अन्न पैदा करता है वह उसकी भोजन सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करता है। उसका उपयोग मूल्य होता है, किन्तु, माल बन जाने पर अन्न के अन्दर एक नया महत्वपूर्ण गुण पैदा हो जाता है : उसका किसी भी दूसरे माल के साथ विनिमय किया जा सकता है। इसलिए माल पहले तो एक ऐसी चीज होता है जो मनुष्य की किसी आवश्यकता की पूर्ति करता है; दूसरे, वह एक

ऐसी चीज़ होता है जिसका दूसरी चीज़ के साथ विनिमय किया जा सकता है।

मालों का विनिमय एक निश्चित परिमाणात्मक अनुपात में होता है। उदाहरण के लिए, आटे के एक बोरे का जूतों के एक जोड़े के साथ विनिमय होता है। किसी माल की किसी दूसरे माल के साथ एक निश्चित परिमाणात्मक अनुपात मे बदल लिये जाने की क्षमता को उसका विनिमय मूल्य (अथवा केवल मूल्य) कहा जाता है। यह एक नया गुण है जिसे माल बन जाने के बाद ही श्रम की कोई उपज प्राप्त कर पाती है। अस्तु, माल के दो गुण होते हैं : उपयोग मूल्य और मूल्य।

विनिमय मूल्य (अथवा केवल मूल्य) सबसे पहले वह अनुपात होता है जिसमे एक प्रकार के उपयोग मूल्यों की एक निश्चित मात्रा का किसी दूसरे प्रकार के उपयोग मूल्यों की एक निश्चित मात्रा के साथ विनिमय होता है। ऊपर से देखने पर वह परिमाणात्मक अनुपात जिसमें वस्तुओं का विनिमय होता है आकस्मिक लग सकता है। दरअसल, इन अनुपातों में अक़्सर उतार-चढ़ाव होता रहता है—कभी-कभी तो उनमे काफी परिवर्तन हो जाता है।

किन्तु ये परिवर्तन एक निश्चित औसत स्तर के आस-पास ही होते है। उदाहरण के लिए, तांबे के एक टन की कीमत में चाहे जितने उतार-चढ़ाव आयें, किन्तु लोहे के एक टन से वह हमेशा अधिक मँहगा बना रहता है, और चांदी के एक टन, और खास तौर से सोने के एक टन से वह हमेशा ही सस्ता बना रहता है। इसी तरह, गेहूँ का एक बुशल (१ बुशल = २९ सेर) राई के एक बुशल से सदा अधिक मँहगा होता है, इत्यादि।

अब हम इस बात का पता लगायें कि वह परिमाणात्मक अनुपात

किस चीज से निर्धारित होता है जिसमे मालो का एक दूसरे से विनिमय होता है।

विभिन्न मालों का आम गुण क्या है ?

भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं की तभी तुलना की जा सकती है जबकि उन सबमें कोई चीज सामान्य रूप से पायी जाती हो। प्रत्येक परिमाणात्मक तुलना के पीछे यह समझ होती है कि जिन चीजों की तुलना की जाती है उनमें कोई सामान्य विशेषता है, कोई सामान्य गुण है। इसके अलावा, यह भी आवश्यक है कि इस सामान्य गुण की नाप-तौल की जा सके।

उदाहरण के लिए, हम कहते हैं कि यह पत्थर वजन मे आटे के दो बोरों के बराबर है। पत्थर और बोरों मे एक चीज़, अर्थात्, वज़न सामान्य है। आटे के बोरों और पत्थर जैसी इतनी भिन्न वस्तुओं की तुलना इसी चीज (यानी वज़न) के आधार पर सम्भव होती है। दोनो वस्तुओ का वज़न लिया गया है और उसके बाद निश्चित हो गया है कि पत्थर का वजन आटे के दो बोरों के वज़न के बराबर है।

किन्तु यदि एक बुशल गल्ले का विनिमय घोड़े के दस नालों के साथ किया जाता है, तो इसका अर्थ होता है कि इन दो मालों में भी सामान्य रूप से कोई चीज़ मौजूद है। वह कौन-सा सामान्य गुण है जिसकी वजह से इन दो भिन्न-भिन्न मालों की तुलना की जा सकती है ?

इस गुण का सम्बन्ध न वज़न से है, न आकार से, न कठोरता से : बुशल भर ग़ल्ले और दस नालों का वजन भिन्न होता है, उनका आकार भिन्न होता है, तथा उनके दूसरे भौतिक गुण-धर्म भी भिन्न-

भिन्न होते हैं। न उस सामान्य गुण का सम्बन्ध इन दोनों मालों की उपयोगिता से है, क्योंकि उनका उपयोग बिल्कुल अलग-अलग होता है। सर्वथा भिन्न-भिन्न उपयोग मूल्य रखने वाले मालों में केवल एक ही सामान्य गुण होता है—वह यह है कि वे श्रम की उत्पत्ति होते हैं।

यहाँ जिन मालों का नाम लिया गया है उन दोनों ही को मानवीय श्रम ने पैदा किया है। उनका सामान्य गुण इसी चीज़ में निहित है। इस गुण को नापा जा सकता है: श्रम को उस समय की मात्रा से नापा जा सकता है जो सम्बन्धित माल को पैदा करने में लगता है।

मालों को पैदा करने में श्रम की जो मात्रा लगती है वही इस बात को तै करती है कि अमुक मालों का अमुक दूसरे मालों के साथ किन अनुपातों में विनिमय किया जाय।

मूल्य का आधार क्या है ?

मालों के उत्पादन में लगने वाला श्रम ही उनके विनिमय सम्बन्धों का आधार होता है। आम तौर से ज्ञात चीजें भी इसी बात की पुष्टि करती है। अनेक ऐसी वस्तुएँ (माल) अतीत काल में मँहगी थीं; किन्तु प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप उनके उत्पादन में लगने वाले आवश्यक श्रम की मात्रा घट गयी है, और इसलिए अब वे बहुत सस्ती हो गयी हैं। उदाहरण के लिए, आज से ५० साल पहले एल्यूमीनियम चांदी की तुलना में दसियों गुना अधिक मँहगा था, किन्तु अब वह चांदी से बहुत सस्ता हो गया है। इसकी वजह यह है कि

एलेक्ट्रिकल इजीनियरिंग का विकास हो गया है और अब एल्यूमीनियम को अपेक्षाकृत काफ़ी कम श्रम से पैदा कर लिया जा सकता है।

विनिमय जब तक अपेक्षाकृत विरल था तब तक उत्पादनों का विनिमय भी अवसर के अनुसार अनुपातो मे होता था। किन्तु जब पैदावार के काफी बड़े भाग का विनिमय होने लगा तब परिस्थिति बदल गयी। विनिमय के अनुपात अधिकाधिक मात्रा मे निर्धारित होने लगे, और मालो का विनिमय उनके निर्माण में लगे श्रम की मात्रा के अनुसार होने लगा।

बहुत दिन नही हुए जब अधिकाश देशों के पास बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियो की संख्या बहुत कम थी। आबादी का बहुमत तब छोटे-छोटे माल पैदा करता था। उस समय कोई किसान जब घोड़े की नालों के साथ अपने ग़ल्ले का विनिमय करता था तो वह जानता था कि नालों को बनाने में लोहार का कितना श्रम लगा होगा। इसलिए नालों के बदले मे किसान उतना ही ग़ल्ला देता था जितने को पैदा करने मे श्रम की लगभग उतनी ही मात्रा लगती थी जितनी नालों को बनाने में ख़र्च होती थी।

जहाँ तक गाँवो के लोहारों तथा शहर के कारीगरों की बात है, वे इस बात को भली-भाँति जानते थे कि किसान किन परिस्थितियों मे खेती करता था। बहुधा तो स्वय उनके पास भी जमीन का कोई खित्ता, बाग तथा पशु होते थे। इसलिए वे इस बात से परिचित थे कि किस काम मे कितना श्रम लगता है। अस्तु, विनिमय के समय चीजो की अदला-बदली का एक ही आधार सभव था : उनके उत्पादन मे श्रम कितना लगा है।

किसी माल में समाविष्ट (embodied) श्रम ही उस माल का मूल्य होता है। मालो का विनिमय मूल्य के अनुसार, अर्थात उनके

निर्माण मे लगे श्रम की मात्रा के अनुसार होता है— मालों की उत्पादन-व्यवस्था का यह एक आर्थिक नियम है।

पूंजीवादी उत्पादन को अराजकता क्या होती है ?

पूजीवादी समाज के दूसरे आर्थिक नियमो की ही तरह, मूल्य का नियम (law of value) भी एक स्वयंस्फूर्त शक्ति के रूप मे काम करता है। प्रतियोगिता के माध्यम से, सबके खिलाफ सबके एक भयंकर सघर्ष के माध्यम से अपना काम वह करता है।

मालो के स्वतंत्र उत्पादकों के समाज मे उत्पादन सम्बन्धी एक अराजकता पायी जाती है। अराजकता का शाब्दिक अर्थ होता है सत्ता का अभाव, नियत्रण का अभाव। उत्पादन की अराजकता का अर्थ यह होता है कि *मालो के व्यक्तिगत उत्पादकों के दरम्यान बिखरे उत्पादन के पीछे किसी योजना का अभाव है। वह योजनाबद्ध नही है।*

मालो के व्यक्तिगत उत्पादक को समाज से ऐसा कोई आदेश नहीं मिलता और न मिल ही सकता है कि किन मालों को और किन मात्राओं में वह तैयार करे। उसका माल बिकेगा या नहीं बिकेगा और बिकेगा तो किस मूल्य पर बिकेगा, उसके माल के लिए मांग है *या नही है—इन तमाम चीज़ों का पता उत्पादक को माल तैयार कर* लेने और उसे बाज़ार मे ले आने के बाद ही चलता है।

बाजार में चलने वाली प्रतियोगिता की वजह से मालों की कीमतो मे बराबर उतार-चढ़ाव आते रहते हैं और उनकी क़ीमतें अपने मूल्य से निरन्तर घटती-बढ़ती रहती हैं। जूतों की कीमत घटकर अगर

उनके मूल्य से कम हो जाती है तो इसका मतलब यह होता है कि जितने जूते बेचे जा सकते हैं उससे ज़्यादा तैयार कर लिये गये है। कीमतों के गिर जाने से कुछ जूते बनाने वाले उत्पादन की इस शाखा को छोड़कर दूसरी शाखाओं में जाने के लिए मजबूर हो जायेंगे। फलस्वरूप बाज़ार मे जूतों की तादाद कम हो जायेगी। जूतों की कीमत अगर उनके मूल्य से अधिक हो जाती है, तो बाज़ार की इस लाभदायी दशा को देखकर नये जूते बनाने वाले उनके उत्पादन की ओर आकर्षित होगे और कुछ समय बाद बाज़ार मे जूतों की सप्लाई बढ़ जायेगी।

अस्तु, मालों की कीमतों का अपने मूल्य से विचलित होना (घटना-बढ़ना) मूल्य के नियम (law of value) के कार्यान्वियन में कोई खोट आ जाने के कारण नही होता। इसके विपरीत, एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था में जिसमें निजी सम्पत्ति का बोलबाला हो, मूल्य के इर्द-गिर्द क़ीमतो के निरन्तर उतार-चढाव के माध्यम से ही मूल्य का नियम अपना कार्य कर सकता है। इस अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन का कार्य मालो के ऐसे बिखरे हुए उत्पादकों के हाथ में होता है जो अपने मालों की अदला-बदली (यानी विनिमय) करते रहते है। उत्पादन की शाखाओं में सामाजिक श्रम का बँटवारा इसी तरह से, इन्हीं अन्तहीन उतार-चढ़ावों के बीच होता है।

पूजीवाद के अन्तर्गत मालों के उत्पादन की व्यवस्था का जब आम विस्तार हो जाता है, तब उत्पादन छोटे-छोटे उत्पादकों के हाथ मे न रहकर पूजीपतियों के कब्ज़े में पहुँच जाता है। उनके कारखाने सैकड़ों-हज़ारों मज़दूरो को काम पर रखते है और नाना प्रकार के मालों के पहाड़ के पहाड़ पैदा करने लगते हैं। अक़्सर ये माल दुनिया के दूर-दूर तक के कोनों में बिकते हैं। इन परिस्थितियों में उत्पादन

सम्बन्धी अराजकता और भी पूरे तौर से उभर कर सामने आ जाती है। इस अराजकता को पूजीवाद से अलग नहीं किया जा सकता। संकटों के समय उसका रूप खास तौर से सर्वनाशी हो उठता है।

मुद्रा का क्यों जन्म होता है ?

पूंजीवाद के प्रारम्भिक काल में एक अंग्रेज धर्मविज्ञ तथा अर्थशास्त्री, डाक्टर रिचर्ड प्राइस ने निम्न हिसाब लगाया था। उन्होंने कहा था कि : यदि ईसवी सन् १ मे चक्रवृद्धि ब्याज पर एक पेनी जमा की गयी होती तो पूजीवादी युग के प्रारम्भकाल तक बढकर वह पृथ्वी के आकार से भी कई गुना बड़े सोने के एक ठोस गोले के बराबर हो गयी होती।

यह गणना काल्पनिक होने पर भी बहुत मनोरंजक है। पूंजीवादी शोषण की भूमि पर जो नयी धारणाएँ उत्पन्न हुई थी उन्हे अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से यह स्पष्ट कर देती है। पूँजीवादी समाज में अनुपार्जित (बेकमाई) आमदनी केवल कारखाने, अथवा किसी व्यावसायिक सस्थान के स्वामी को ही नही प्राप्त होती। उसके अन्तर्गत, महज इस वजह से कि वे बड़ी पूँजी के मालिक है, उनके पास रुपये की विशाल धनराशियां है—लोगों की एक निरन्तर बढती हुई संख्या को बिना कुछ काम-धाम किये ही भारी-भारी आमदनियां प्राप्त होने लगती है।

द्रव्य-पूँजी (money capital) के स्वामी अपने रुपये को सूद पर उधार देते है। इससे उनका रुपया बढ़ता है। मुद्रा कैसे पैदा होती है ? आखिर, मुद्रा कोई पेड़ तो है नही जो मुक्त आकाश मे अपने आप पैदा हो जाता है।

वास्तव में, मुद्रा की वृद्धि तथा प्रकृति में पायी जाने वाली साधारण वृद्धि की क्रिया में कोई भी समानता नहीं है। मुद्रा की वृद्धि केवल एक ऐसी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था के अन्दर ही हो सकती है जिसमें पूंजीपति को मजदूर के अदत्त श्रम (Unpaid labour) को लूटने की छूट होती है।

पूंजी क्या है?

एक पूंजीवादी अर्थशास्त्री ने इस प्रश्न का निम्न उत्तर दिया है :

"जिस पहले ढेले को जंगली आदमी ने उस जानवर को मारने के लिए फेंका था जिसका वह शिकार करना चाहता था, जिस पहली लकुटी का उस फल को हासिल करने के लिए उसने इस्तेमाल किया था जिसे वह हाथ से नहीं तोड़ सकता था—वही इस बात का उदाहरण था कि किसी चीज को प्राप्त करने के उद्देश्य से एक दूसरी चीज पर किस तरह अधिकार कर लिया गया था। यहीं से पूंजी का श्रीगणेश हुआ था।"

पूंजी की यह व्याख्या पूजीपतियों के अत्यन्त अनुकूल है। इसका लक्ष्य लोगों के दिमाग में यह जमाना है कि पूंजी का अस्तित्व हमेशा से रहा है और हमेशा बना रहेगा।

ठीक भी है, यदि श्रम का प्रत्येक साधन पूंजी है, तो स्पष्ट है कि लोग पूंजी के बिना जिन्दा नहीं रह सकते—क्योंकि श्रम के साधनों की आवश्यकता सदा ही रही है और सदा ही बनी रहेगी। ऐसी हालत में तो वह बन्दर भी जो नारियल को पत्थर से तोड़ता है, एक पूंजीपति ही होगा!

किन्तु यह व्याख्या बिलकुल गलत है। ढेला और लकुटी श्रम के साधनों का अवश्य काम करते हैं, किन्तु वे स्वयम् मानव द्वारा मानव के शोषण के साधन नही बन जाते।

वास्तव में, पूंजी कोई वस्तु नही है। वह उत्पादन का एक खास सामाजिक सम्बन्ध है। वह उत्पादन के साधनों के स्वामी वर्ग तथा उस वर्ग के बीच का सामाजिक सम्बन्ध है जो इन साधनों से वंचित होता है और इसलिए अपना शोषण कराने के लिए मजबूर होता है। वह वस्तुओं से सम्बन्धित वर्गों के बीच का सम्बन्ध है : उसके अन्तर्गत उत्पादन के सारे साधन पूंजीपतियों की मुट्ठी में होते है और मजदूर वर्ग उनसे वंचित होता है। वस्तुएँ—इमारतें, मशीनें, कच्चे माल, *तैयारशुदा माल—ये सब चीजें स्वयं पूंजी नहीं होतीं।* किन्तु, एक खास सामाजिक व्यवस्था—जिसमें इन चीजो पर पूंजीपतियो का एकाधिकार होता है—उत्पादन के साधनों को शोषण के साधनों में, अर्थात् पूंजी मे बदल देती है।

पूंजीवादी समाज मे उत्पादन के साधन माल होते हैं। मालों के रूप में उनका मूल्य होता है, रुपये से उनकी खरीद-फरोख्त होती है। इसी वजह से पूंजी को वह मूल्य कहा जा सकता है जो मजदूरों के श्रम का शोषण करके अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है।

पूंजीवाद का आधार यह है कि उत्पादन के साधन थोड़े से लोगों की—पूंजीपतियों और भू-पतियों की, निजी सम्पत्ति होते हैं। दूसरी तरफ, उन लोगों का बहुमत होता है जिनके पास उत्पादन के साधन नही होते और इसलिए जो फ़ैक्ट्रियो, खानो और भूमि के स्वामियों के हाथ किराये पर अपने को बेचने के लिए मजबूर होते हैं।

पूंजीवादी देशों में छोटे-छोटे *मालिक, यानी ऐसे किसान और* कारीगर भी होते हैं जो श्रम के सीधे-सादे औजारों की मदद से खुद

काम करते हैं। किन्तु ये छोटे उत्पादक बड़े मालिकों का मुकाबला नही कर सकते और मजदूरी करने वाले श्रमिकों के रूप में उन्हे भी बड़े पूँजीपतियों और भूपतियों के उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है।

पूँजीवादी समाज में, जन्म से लेकर मृत्यु तक, जीवन भर हर कदम पर मनुष्य को निजी सम्पत्ति के आधिपत्य का सामना करना पड़ता है।

फैक्टरी में काम करने वाला मजदूर हो, चाहे दफ्तर का कर्मचारी, उसे एक ऐसे मकान में रहना पडता है जिसका मालिक कोई मकान-मालिक होता है। जिस कारखाने या दफ्तर मे वह काम करता है उसका मालिक कोई पूँजीपति, अथवा पूँजीपतियो का कोई गुट होता है। खाना, कपड़ा तथा उपयोग की अन्य तमाम वस्तुएँ उसे निजी धन्धा करने वाले व्यापारियों के पास से ही खरीदनी पड़ती हैं। जिस ट्राम, रेल या बस से वह सफर करता है वह भी किसी पूँजीवादी कम्पनी की मिल्कियत होती है।

सिनेमाघर और थियेटर, सगीत भवन और स्टेडियम (क्रीड़ा-स्थल)—पूँजीपतियो की मिल्कियत होते हैं। अधिकाश पत्रों, पत्रिकाओ तथा पुस्तकों का प्रकाशन और रेडियो तथा टेलीविजन के साधन भी पूँजीपतियों की मुट्ठी मे होते है। डाक्टरो और अस्पतालो की सेवाओं मे भी निजी व्यापार चलता है।

कारखाने या दफ़्तर के किसी कर्मचारी के पास अगर थोड़ी-बहुत बचत होती है तो वह भी उसे किसी ऐसी बीमा कम्पनी अथवा सेविंग्स बैंक (बचत बैंक) मे जमा करने के लिए मजबूर होना पडता है जिसके सर्वेसर्वा बडे पूँजीपति, या उनके एजेन्ट होते हैं। और, अन्त मे, मर जाने पर भी उसका अन्तिम क्रिया-कर्म (पूँजीवादी देशों में—अनु०) कोई निजी व्यवसायी महाब्राह्मण ही करता है।

पूंजीपति अगर हवा को अपनी सम्पत्ति बनाकर उसका क्रय-विक्रय कर सकते, तो निश्चय ही ऐसा भी उन्होंने बहुत पहले ही करना शुरू कर दिया होता। मनुष्य को हवा की तरह ही जमीन की भी जरूरत होती है। मकान, कल-कारखाने और रेलें जमीन पर बनायी जाती है। जमीन की खेती से खाद्यान्न तथा जीविका के अन्य साधन प्राप्त होते है। किन्तु पूंजीवाद के अन्तर्गत जमीन निजी सम्पत्ति होती है, उसका अधिकाश भाग भूपतियो और पूंजीपतियों के छोटे-से गिरोह के हाथो मे केन्द्रित होता है।

श्रम-शक्ति माल क्यों बन जाती है ?

मजदूरो को पूंजीपति जब मजदूरी पर नौकर रखता है तो वह एक निश्चित माल को, उस एकमात्र माल को खरीद लेता है जो मजदूरो के पास होता है और जिसे वे बेच सकते हैं। यह माल होता है उनकी श्रम-शक्ति।

श्रम-शक्ति मनुष्य के पास हर सामाजिक व्यवस्था में होती है। किन्तु श्रम-शक्ति माल, अर्थात् बेचने और खरीदने की एक वस्तु, केवल पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत ही बनती है। मालो का उत्पादन जब अपने विकास की चरम अवस्था में पहुंच जाता है और जब श्रम-शक्ति भी एक माल बन जाती है तो उसी को पूंजीवाद कहते हैं।

श्रम-शक्ति के माल का रूप ले लेने के लिए खास परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं: उसके लिए आवश्यक होता है कि समाज में ऐसे लोगो का एक वर्ग हो जिनके पास उत्पादन के कोई साधन नही हैं और एक वर्ग ऐसे लोगो का हो जो इन साधनो के स्वामी हैं। ये

परिस्थितियां पूंजीवाद के जन्म के साथ पैदा होती हैं और उसके उन्मूलन के साथ ही नष्ट हो जाती हैं।

पूंजीवादी समाज मे मजदूरों की एकमात्र सम्पत्ति उनकी श्रम-शक्ति होती है। किन्तु उत्पादन के सारे साधन जब पूंजीपतियों के पास हों तो मजदूर अपनी श्रम-शक्ति का इस्तेमाल कहां कर सकते हैं? ऐसी हालत में मजदूरों के सामने एकमात्र रास्ता यह रह जाता है कि अपनी श्रम-शक्ति को वे पूंजीपतियो के हाथ बेचें।

माल के रूप में श्रम-शक्ति का क्या मूल्य होता है?

कोई पूंजीवादी उद्योग किसी मजदूर को जब मजदूरी पर रखता है तो वह मजदूर अपनी श्रम-शक्ति को हमेशा के लिए पूंजीपति के हाथ नही बेच देता, बल्कि एक निश्चित काल के लिए—एक दिन, एक हफ्ते, या एक महीने के लिए बेचता है। इसके एवज में उसे दैनिक, साप्ताहिक, अथवा मासिक मजदूरी मिलती है।

हर माल की तरह श्रम-शक्ति का भी एक निश्चित मूल्य होता है। इस बात को तो हम पहले ही जान चुके है कि किसी माल का मूल्य उसके उत्पादन के लिए आवश्यक सामाजिक श्रम की मात्रा के आधार पर तै होता है। मजदूर जिस माल को, यानी अपनी जिस श्रम-शक्ति को बेचता है उसका क्या मूल्य है?

मनुष्य तभी काम कर सकता है जब वह जिन्दा रहे: खाना खाए, कपड़े पहने, और उसके सिर पर किसी छप्पर की छाया हो—अर्थात् वह तभी काम कर सकता है जबकि उसकी जीवनावश्यक जरूरतें पूरी होती रहें। मजदूर की जीवनावश्यक जरूरतों की पूर्ति करना आवश्यक

है, क्योंकि केवल तभी अपनी श्रम-शक्ति को वह इस दशा में बनाये रख सकता है कि उसका उपयोग किया जा सके।

किन्तु रोटी, गोश्त, कपड़ा, सिर पर छाया, आदि वे तमाम चीजें जो मानवी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं—पूंजीवादी समाज में माल (commodities) होती है। उनके उत्पादन में श्रम की एक निश्चित मात्रा लगी होती है। उसी से उनका मूल्य निर्धारित होता है।

अस्तु, एक माल के रूप में श्रम-शक्ति का मूल्य उन मालों के मूल्य के बराबर होता है जिनकी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए तथा काम करने की अपनी शक्ति को बहाल करते रहने के लिए मजदूर को जरूरत होती है। दूसरे शब्दों में, श्रम-शक्ति का मूल्य वास्तव में जीवन-निर्वाह के उन साधनों का मूल्य होता है जिनकी श्रम-शक्ति के मालिक की (अर्थात् मजदूर की) जिन्दगी को बनाये रखने के लिए आवश्यकता होती है।

पूंजी के लिए आवश्यक होता है कि उसे श्रम-शक्ति निरन्तर प्राप्त होती रहे। उसे दोनों तरह के मजदूरों की जरूरत होती है—अकुशल मजदूरों की, और ऐसे दक्ष मजदूरों की भी जो जटिल मशीनों को चला सकते हैं। इसी वजह से श्रम-शक्ति के मूल्य में वे खास खर्चे भी शामिल होते हैं जिनकी मजदूर वर्ग की युवक-पीढ़ी की शिक्षा-दीक्षा (ट्रेनिंग) के लिए आवश्यकता होती है।

पूंजीवादी व्यवस्था में श्रम की उत्पादकता को अपेक्षाकृत एक ऊँचे स्तर पर बनाये रखने की चेष्टा की जाती है। मजदूर के दैनिक श्रम से इस स्तर पर जो उत्पादन होता है वह उससे अधिक होता है जो उसके जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होता है। मजदूर के श्रम

से पैदा होनेवाला मूल्य तथा उसकी श्रम-शक्ति का मूल्य इसीलिए दो अलग-अलग चीजें है, दो अलग-अलग मात्राएँ है। मजदूर का श्रम जिस मूल्य की सृष्टि करता है वह उसकी श्रम-शक्ति के मूल्य से कही अधिक होता है।

इन दो मूल्यों के बीच अन्तर होना आवश्यक है, क्योंकि तभी पूँजी श्रम का शोषण कर सकती है।

मजदूर की श्रम-शक्ति के मूल्य और उस मूल्य में जो उसके श्रम से पैदा होता है जो फ़र्क होता है उसे पूँजीपति पूरे का पूरा हड़प लेता है।

अतिरिक्त मूल्य क्या होता है ?

पूँजीपति उद्यम (Capitalist enterprise) के अन्दर मजदूर जो श्रम करता है वह दो हिस्सो मे बँटा होता है। अपने काम के दिन के एक भाग मे मजदूर अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य के बराबर मूल्य पैदा करता है। यह श्रम—आवश्यक श्रम होता है। फिर काम के दिन के दूसरे भाग मे मजदूर अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है जिसे पूँजीपति बिना कुछ दिये ही हड़प लेते हैं। यह श्रम—अतिरिक्त श्रम होता है।

मजदूर का अतिरिक्त श्रम जिस मूल्य की सृष्टि करता है उसे अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है। अतिरिक्त मूल्य मजदूर के अदत्त श्रम (unpaid labour) का (उस श्रम का जिसके लिए उसे कुछ नही दिया जाता) फल होता है। समाज की तमाम अनुपार्जित आमदनियों (unearned incomes) का स्रोत मजदूरी पर काम करने वाले

मजदूरों के अदत्त श्रम द्वारा पैदा किया जाने वाला यही अतिरिक्त मूल्य होता है।

पूंजीवादी शोषण शोषण के पहले के स्वरूपों से किस प्रकार भिन्न है ?

पहले के शोषक समाजों से पूंजीवादी समाज सिर्फ इस बात में भिन्न है कि उसके अन्तर्गत असली उत्पादकों के जन-समुदाय के अतिरिक्त श्रम का शोषण एक बिल्कुल दूसरे ढंग से किया जाता है।

दास समाज में उत्पादन के समस्त साधनों के साथ-साथ असली उत्पादक (direct producer) स्वयम् भी शोषक की सम्पत्ति होता था। उस समाज मे शोषण सर्वथा खुले और नग्न रूप में होता था। उत्पादन के साधन और मेहनतकश लोग, यानी दास—दोनों ही पर दासो के मालिक का पूर्ण, अविभक्त अधिकार होता था। वे दोनों उसकी सम्पत्ति होते थे।

दास प्रथा पर आधारित रोम की समाज-व्यवस्था में तीन प्रकार के औज़ार माने जाते थे : (१) मूक औज़ार (mute tools)—इनमें सब प्रकार के औजार आ जाते थे, (२) आधे बोलने वाले औज़ार (semi-vocal tools)—इस श्रेणी में तमाम पशु होते थे, और (३) बोलने वाले औज़ार (vocal tools)—दासो को इसी नाम से पुकारा जाता था। दास समाज की नजर में किसी कुल्हाडी या बैल तथा दास के बीच सिर्फ यह फर्क होता था कि दास में बोलने की भी शक्ति होती थी ! अन्य तमाम मामलों मे अपने मालिक की वह उसी तरह सम्पत्ति होता था जिस तरह कि पशु, अथवा श्रम के औज़ार उसकी सम्पत्ति होते थे।

शासक वर्ग के प्रतिनिधियों को दास प्रथा सर्वथा स्वाभाविक लगती थी। वे समझते थे कि मानव समाज का यही स्वाभाविक आधार था। दासों के मालिकों के वर्ग के विचारों की अभिव्यंजना करते हुए, प्राचीन काल के महान् विचारक, अरस्तू ने लिखा था :

"और चाहे जो कुछ हो, यह बात बिलकुल साफ है कि कुछ लोग प्रकृति से ही स्वतंत्र हैं, और कुछ दूसरे लोग दास हैं, और, इन लोगों का दास होना उपयोगी तथा न्यायपूर्ण है।"....

इसी तरह, पूंजीवाद के खुले प्रचारक भी आज साफ-साफ कहते हैं कि कुछ लोगों के पास अकूत दौलत होना और दूसरे लोगों का उनके लिए काम करना सर्वथा स्वाभाविक है—प्रकृति का यही विधान है। वे यह भी कहते है कि मजदूरों का शोषण किया जाना लाभ-दायक और न्यायपूर्ण है।

सामन्ती समाज मे, जमीन को खोदने के आदिमकालीन औज़ार अर्द्ध-गुलाम के होते थे, किन्तु उत्पादन के लिए जरूरी मुख्य वस्तु का, अर्थात् जमीन का मालिक भूस्वामी होता था। अर्द्ध-गुलाम किसान व्यक्तिगत रूप से भी भूस्वामी से बंधा रहता था, यानी वह पूर्णतया उसके अधीन होता था।

सामन्ती व्यवस्था का आधार भूस्वामियों द्वारा किसानों का शोषण था। किसानों के अतिरिक्त श्रम को, अथवा उनके श्रम की पैदावार को भूस्वामी हड़प लेते थे।

सामन्तों से सत्ता छीन लेने के बाद, अपने इन पुराने शत्रुओं के साथ पूंजीपति वर्ग ने समझौता कर लिया। अधिकांश देशों में उसने भूमि को भूपतियों की ही सम्पत्ति बना रहने दिया। किसानों का

भूस्वामियों द्वारा किया जाने वाला शोषण बना रहा, सिर्फ उसके रूप बदल गये।

आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में सामन्तवाद के अनेक अवशेष अब भी बहुत-कुछ कायम हैं। *उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशो में पूंजीवादी* उत्पीड़न के साथ-साथ सामन्ती अवशेषो द्वारा किया जाने वाला उत्पीडन भी जुड़ गया है। इन सामन्ती तत्वों से उपनिवेशवादियों को बहुत मदद मिलती है—उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों मे वे उनके मुख्य *स्तम्भ होते हैं। बदले मे, उपनिवेशवादी भी वहाँ के सामन्ती तत्वों* की हर प्रकार से सहायता करते है।

पूंजीवाद का आधार मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरो का शोषण है। कहने के लिए मजदूरी पर काम करने वाले मज़दूर "आजाद" हैं; किन्तु, वास्तव में, न तो उनके पास उत्पादन के साधन है—ऐसे समस्त साधनो पर पूंजीपति वर्ग की इजारेदारी होती है—और न जीवन-निर्वाह के ही साधन। इसी वजह से मजदूरी पर काम करने वाले मज़दूर पूंजीपतियो के लिए काम करने के लिए मजबूर होते है। लोगो के ऊपर सत्ता का इस्तेमाल इस समाज मे वस्तुओं के ऊपर स्थापित सत्ता के माध्यम से किया जाता है : *शोषण* इसमे लुके-छिपे और गुप्त रूप से होता है।

दास समाज और सामन्ती समाज मे अतिरिक्त श्रम की लूट-खसोट किन्हीं निश्चित सीमाओ के ही अन्दर होती थी। दासों का मालिक, अथवा सामन्ती जमीदार जिन दासों अथवा अर्ध-दासों का शोषण *करता था* उनसे वह केवल *उतना ही श्रम* लेता था जितना उसकी आवश्यकताओ और झको की पूर्ति के लिए आवश्यक होता था।

किन्तु पूंजीपति मजदूरों के *अतिरिक्त श्रम* को नकदी (cash)

में बदल रहा है। मुद्रा को अतिरिक्त पूंजी के रूप में फिर लगाया जा सकता है। उससे पूंजीपति नया अतिरिक्त मूल्य प्राप्त कर सकता है।

यही वजह है कि पूंजीवादी व्यवस्था में अतिरिक्त श्रम की चाह की कोई सीमा नहीं है। मजदूरी पर काम करने वाले अपने दासों के शोषण को बढ़ाने मे पूंजीपति किसी भी चीज की कोर-कसर नहीं रखते। अतिरिक्त श्रम के लिए पूंजीवाद की जो लालसा है उसकी सचमुच कोई सीमा नहीं है।

१९ वी शताब्दी के एक ट्रेड यूनियन नेता ने उस अतोषणीय लोलुपता (insatiable greed) का बहुत ही सजीव वर्णन किया है जो पूंजी की घूटी में ही छिपी हुई है। वे लिखते है :

"कहा जाता है कि पूंजी......उथल-पुथल और झगड़े-झझटों से दूर भागती है, और वह डरपोक है। यह बात बिल्कुल सही है। लेकिन बात को इस तरह कहने का मतलब असलियत को अत्यन्त अपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना है। जिस तरह पहले कहा जाता था कि प्रकृति रिक्तता (vacuum) से नफरत करती है, उसी तरह पूंजी भी ऐसी जगह से जहां मुनाफा न हो, अथवा बहुत थोड़ा मुनाफा हो, परहेज करती है। मुनाफा काफ़ी हो तो पूंजी में बहुत हिम्मत आ जाती है। १० प्रतिशत मुनाफ़ा मिलना निश्चित हो तो वह कहीं भी लगने या जाने के लिए तैयार हो जायेगी; २० प्रतिशत मुनाफे की सम्भावना हो तो उसके अन्दर बेचैनी उत्पन्न हो जायेगी; ५० प्रतिशत मुनाफा मिलने वाला हो तो उसके अन्दर निडरता के बलवले उठने लगेंगे; १०० प्रतिशत मुनाफे के लिए वह समस्त मानवीय नियमो को पैरों तले रौंदने के लिए तैयार हो जायेगी; ३०० प्रतिशत मुनाफ़ा होने वाला हो तो दुनिया में ऐसा कोई भी कुकर्म नहीं जिसे करने में उसे

भूस्वामियों द्वारा किया जाने वाला शोषण बना रहा, सिर्फ उसके रूप बदल गये।

आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में सामन्तवाद के अनेक अवशेष अब भी बहुत-कुछ क़ायम हैं। उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में पूंजीवादी उत्पीड़न के साथ-साथ सामन्ती अवशेषों द्वारा किया जाने वाला उत्पीडन भी जुड गया है। इन सामन्ती तत्वों से उपनिवेशवादियो को बहुत मदद मिलती है—उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों मे वे उनके मुख्य स्तम्भ होते है। बदले में, उपनिवेशवादी भी वहां के सामन्ती तत्वों की हर प्रकार से सहायता करते है।

पूंजीवाद का आधार मजदूरी पर काम करने वाले मजदूरों का शोषण है। कहने के लिए मजदूरी पर काम करने वाले मज़दूर "आजाद" है; किन्तु, वास्तव मे, न तो उनके पास उत्पादन के साधन है—ऐसे समस्त साधनों पर पूंजीपति वर्ग की इजारेदारी होती है—और न जीवन-निर्वाह के ही साधन। इसी वजह से मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर पूंजीपतियों के लिए काम करने के लिए मजबूर होते है। लोगो के ऊपर सत्ता का इस्तेमाल इस समाज में वस्तुओं के ऊपर स्थापित सत्ता के माध्यम से किया जाता है : शोषण इसमे लुके-छिपे और गुप्त रूप से होता है।

दास समाज और सामन्ती समाज में अतिरिक्त श्रम की लूट-खसोट किन्ही निश्चित सीमाओ के ही अन्दर होती थी। दासों का मालिक, अथवा सामन्ती जमीदार जिन दासों अथवा अर्ध-दासों का शोषण करता था उनसे वह केवल उतना ही श्रम लेता था जितना उसकी आवश्यकताओं और झकों की पूर्ति के लिए आवश्यक होता था।

किन्तु पूंजीपति मजदूरो के अतिरिक्त श्रम को नकदी (cash)

में बदल रहा है। मुद्रा को अतिरिक्त पूंजी के रूप में फिर लगाया जा सकता है। उससे पूंजीपति नया अतिरिक्त मूल्य प्राप्त कर सकता है।

यही वजह है कि पूंजीवादी व्यवस्था में अतिरिक्त श्रम की चाह की कोई सीमा नहीं है। मजदूरी पर काम करने वाले अपने दासों के शोषण को बढाने में पूंजीपति किसी भी चीज की कोर-कसर नही रखते। अतिरिक्त श्रम के लिए पूंजीवाद की जो लालसा है उसकी सचमुच कोई सीमा नही है।

१९ वी शताब्दी के एक ट्रेड यूनियन नेता ने उस अतोषणीय लोलुपता (insatiable greed) का बहुत ही सजीव वर्णन किया है जो पूंजी की घुटी में ही छिपी हुई है। वे लिखते है :

"कहा जाता है कि पूंजी......उथल-पुथल और झगड़े-झंझटों से दूर भागती है, और वह डरपोक है। यह बात बिल्कुल सही है। लेकिन बात को इस तरह कहने का मतलब असलियत को अत्यन्त अपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना है। जिस तरह पहले कहा जाता था कि प्रकृति रिक्तता (vacuum) से नफरत करती है, उसी तरह पूंजी भी ऐसी जगह से जहाँ मुनाफ़ा न हो, अथवा बहुत थोड़ा मुनाफ़ा हो, परहेज करती है। मुनाफा काफ़ी हो तो पूंजी में बहुत हिम्मत आ जाती है। १० प्रतिशत मुनाफा मिलना निश्चित हो तो वह कहीं भी लगने या जाने के लिए तैयार हो जायेगी; २० प्रतिशत मुनाफे की सम्भावना हो तो उसके अन्दर बेचैनी उत्पन्न हो जायेगी; ५० प्रतिशत मुनाफा मिलने वाला हो तो उसके अन्दर निडरता के बलबले उठने लगेंगे; १०० प्रतिशत मुनाफ़े के लिए वह समस्त मानवीय नियमों को पैरों तले रौंदने के लिए तैयार हो जायेगी; ३०० प्रतिशत मुनाफ़ा होने वाला हो तो दुनिया में ऐसा कोई भी कुकर्म नहीं जिसे करने में उसे

भूस्वामियों द्वारा किया जाने वाला शोषण बना रहा, सिर्फ़ उसके रूप बदल गये।

आर्थिक रूप से पिछड़े देशों में सामन्तवाद के अनेक अवशेष अब भी बहुत-कुछ क़ायम हैं। उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में पूंजीवादी उत्पीड़न के साथ-साथ सामन्ती अवशेषों द्वारा किया जाने वाला उत्पीड़न भी जुड़ गया है। इन सामन्ती तत्वों से उपनिवेशवादियों को बहुत मदद मिलती है—उपनिवेशों और अर्ध-उपनिवेशों में वे उनके मुख्य स्तम्भ होते है। बदले में, उपनिवेशवादी भी वहाँ के सामन्ती तत्वों की हर प्रकार से सहायता करते है।

पूंजीवाद का आधार मज़दूरी पर काम करने वाले मजदूरों का शोषण है। कहने के लिए मज़दूरी पर काम करने वाले मज़दूर "आज़ाद" हैं; किन्तु, वास्तव में, न तो उनके पास उत्पादन के साधन हैं—ऐसे समस्त साधनो पर पूंजीपति वर्ग की इजारेदारी होती है—और न जीवन-निर्वाह के ही साधन। इसी वजह से मज़दूरी पर काम करने वाले मजदूर पूंजीपतियों के लिए काम करने के लिए मजबूर होते है। लोगों के ऊपर सत्ता का इस्तेमाल इस समाज में वस्तुओं के ऊपर स्थापित सत्ता के माध्यम से किया जाता है : शोषण इसमे लुके-छिपे और गुप्त रूप से होता है।

दास समाज और सामन्ती समाज में अतिरिक्त श्रम की लूट-खसोट किन्ही निश्चित सीमाओ के ही अन्दर होती थी। दासों का मालिक, अथवा सामन्ती जमीदार जिन दासों अथवा अर्ध-दासों का शोषण करता था उनसे वह केवल उतना ही श्रम लेता था जितना उसकी आवश्यकताओं और झकों की पूर्ति के लिए आवश्यक होता था।

किन्तु पूंजीपति मज़दूरो के अतिरिक्त श्रम को नकदी (cash)

में बदल रहा है। मुद्रा को अतिरिक्त पूंजी के रूप में फिर लगाया जा सकता है। उससे पूंजीपति नया अतिरिक्त मूल्य प्राप्त कर सकता है।

यही वजह है कि पूंजीवादी व्यवस्था में अतिरिक्त श्रम की चाह की कोई सीमा नही है। मजदूरी पर काम करने वाले अपने दासो के शोषण को बढाने में पूंजीपति किसी भी चीज की कोर-कसर नही रखते। अतिरिक्त श्रम के लिए पूंजीवाद की जो लालसा है उसकी सचमुच कोई सीमा नही है।

१९ वी शताब्दी के एक ट्रेड यूनियन नेता ने उस अतोषणीय लोलुपता (insatiable greed) का बहुत ही सजीव वर्णन किया है जो पूंजी की घूटी में ही छिपी हुई है। वे लिखते है :

"कहा जाता है कि पूंजी......उथल-पुथल और झगड़े-झंझटों से दूर भागती है, और वह डरपोक है। यह बात बिल्कुल सही है। लेकिन बात को इस तरह कहने का मतलब असलियत को अत्यन्त अपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना है। जिस तरह पहले कहा जाता था कि प्रकृति रिक्तता (vacuum) से नफ़रत करती है, उसी तरह पूंजी भी ऐसी जगह से जहाँ मुनाफ़ा न हो, अथवा बहुत थोड़ा मुनाफ़ा हो, परहेज़ करती है। मुनाफ़ा काफ़ी हो तो पूंजी में बहुत हिम्मत आ जाती है। १० प्रतिशत मुनाफा मिलना निश्चित हो तो वह कहीं भी लगने या जाने के लिए तैयार हो जायेगी; २० प्रतिशत मुनाफे की सम्भावना हो तो उसके अन्दर बेचैनी उत्पन्न हो जायेगी; ५० प्रतिशत मुनाफ़ा मिलने वाला हो तो उसके अन्दर निडरता के बलबले उठने लगेंगे; १०० प्रतिशत मुनाफे के लिए वह समस्त मानवीय नियमो को पैरो तले रौंदने के लिए तैयार हो जायेगी; ३०० प्रतिशत मुनाफा होने वाला हो तो दुनिया में ऐसा कोई भी कुकर्म नहीं जिसे करने में उसे

किसी नैतिक हिचकिचाहट का अनुभव होगा—ऐसा कोई जोखिम नही जिसे उठाने के लिए वह तैयार नही हो जायेगी ! पूंजी के मालिक के फासी पर टांग दिये जाने का खतरा होगा तब भी वह डरेगी नहीं।"
(पूंजी, खण्ड १, हिन्दी संस्करण, फुटनोट, पृष्ट ८५२–८५३)

पूंजीवादी शोषण पर पर्दा कैसे पड़ा रहता है ?

पूंजीवादी समाज मे मजदूरी का अर्थ वास्तव में मजदूरी की दासता (wage slavery) है। रोम के दासों को काम करने की जगहो पर जंजीरो से बांध दिया जाता था; मजदूरी पर काम करने वाला मजदूर उत्पादन के साधनों के स्वामी की चक्की से गरीबी तथा भूखों मर जाने के डर की डोरियों से बंधा रहता है। दास समाज के ओवरसियर का कोड़ा अब नही होता; उसकी जगह अब काम से *निकाल दिये जाने के खतरे की तलवार सिर पर लटकती रहती है !* उत्पादन के पूंजीवादी तरीके के निर्दय नियम मजदूर को पूंजी के रथ में मजबूती से जोते रहते हैं।

किन्तु पूंजीवादी शोषण के ऊपर—पूंजीवाद की बुनियादी विशेषताओं से पैदा होने वाले भ्रमों का, और शोषण के पहले के स्वरूपो से पूंजीवादी स्वरूप मे जो फ़र्क है उसका पर्दा पड़ा रहता है। मजदूरी पर काम करने से मजदूरो के अन्दर जो भ्रम उत्पन्न होते हैं उनका अत्यन्त चतुराई से इस्तेमाल करते हुए पूंजीपति वर्ग उनमे जितना शारीरिक एवम् आत्मिक श्रम करा लेता है उसकी दास प्रथा में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। मजदूरी पर काम करने वाले श्रमिकों की दासता की असलियत को [illegible] जाने, के [illegible] में

हिस्सा देने," "सामाजिक भागीदारी", आदि-आदि की अनेक चालाकी-भरी पद्धतियों और प्रणालियों का आविष्कार पूंजीवाद ने कर लिया है। पूंजीवाद के हिमायती खम ठोक कर कहते है कि पूंजीवाद का स्वरूप और उसकी असलियत बदल गयी है, "पूंजी का जनवादी-करण" हो गया है, तथा पूंजीवादी समाज मे एक "लोक कल्याणकारी राज्य" की स्थापना हो गयी है।

पर, वास्तविकता यह है कि, यद्यपि दुनिया मे बहुत-सी चीजें बदल गयी है, खुद पूंजीवादी देश भी बहुत-कुछ बदल गये हैं, किन्तु पूंजी द्वारा श्रम का शोषण करने की वास्तविकता मे कोई तब्दीली नही हुई है। अपने बुनियादी हितों के लिए मजदूर वर्ग ने जो नि.स्वार्थ संघर्ष किया है वह व्यर्थ नही हुआ। कभी-कभी पूंजी को मजदूरो को सुविधाएँ देने के लिए भी मजबूर होना पड़ा है। उच्च रूप से विकसित पूंजीवादी देशो मे १०० वर्ष पहले १२ घन्टे का जो दिन चलता था वह अब नही चलता। अब वह काफी छोटा हो गया है। अधिकांश देशो में अब ८ घन्टे का दिन चलता है।

लेकिन उन तमाम छूटों और सुविधाओं के बावजूद जो पूजीपति वर्ग से लड़कर मजदूरों ने हासिल कर ली है, पूंजीवादी देशों की असलियत नही बदली है। इस व्यवस्था का आधार ही पूजी द्वारा श्रम का शोषण है। श्रम और पूजी के बीच की खाई पटने के बजाय और भी गहरी हो गयी है। पूंजीवादी विकास के फलस्वरूप पूजीपतियो के छोटे-छोटे गिरोह तो और ज्यादा धनी हो जाते है; किन्तु आबादी का विशाल बहुमत सर्वहारा बनता जाता है, अर्थात्, वह सम्पत्ति-विहीन ऐसे लोगो की जमात मे परिणत होता जाता है जो केवल अपनी श्रम-शक्ति को बेचकर ही जिन्दा रह सकते हैं।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का क्या महत्व है ?

श्रम के पूजी द्वारा किये जाने वाले शोषण की असलियत को मार्क्सवाद ने उघाड़ कर सामने रख दिया है। और मार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त (theory of surplus value) ने पूंजीवादी शोषण के सारे रहस्य को खोल दिया है।

अतिरिक्त मूल्य की खोज ने पूजीवादी समाज की असलियत का पर्दाफाश कर दिया है और सबकी आँखों के सामने स्पष्ट कर दिया है कि वह एक नगण्य, निरन्तर छोटे होते जाने वाले अल्पमत द्वारा आम जनता के विशाल बहुमत का शोषण करने की एक महाकाय संस्था है। पूजीवाद के अन्तर्गत सबके हितों की एकता के सम्बन्ध में शोषक वर्गों के चरो और सेवको द्वारा आजकल जो भ्रम फैलाये जा रहे हैं उन पर इस खोज ने घातक प्रहार किया है और उनके पाखण्डी शब्द-जाल का पर्दाफाश कर दिया है। अपनी इस खोज के माध्यम से मार्क्स ने सिद्ध कर दिया कि पूजीवादी व्यवस्था वास्तव मे मजदूरी की गुलामी की व्यवस्था है— वह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें वैयक्तिक पराधीनता के पुराने स्वरूपों— दासता और अर्ध-दासता के स्वरूपों— के स्थान पर आर्थिक दासता की प्रणाली कायम कर दी गयी है।

अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त से मजदूरो तथा पूजीवादी देशों के अन्य तमाम श्रमजीवियो को अपनी दासता, दरिद्रता और तकलीफो के वास्तविक कारणो को जानने-समझने में सहायता मिलती है। यह सिद्धान्त बतलाता है कि मज़दूरो तथा अन्य समस्त श्रमजीवियो की गरीबी और उत्पीड़न का कारण कोई आकस्मिक चीजें नहीं हैं; ये यातनाएँ उन्हें इक्के-दुक्के पूजीपतियों की स्वेच्छाचारिता के कारण

नहीं सहनी पड़तीं; बल्कि उनकी वजह पूँजीवादी व्यवस्था है, उत्पादन के पूँजीवादी सम्बन्ध हैं।

मजदूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच जो वर्ग-विरोध है अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त उसकी सम्पूर्ण गहराई तथा असंधेयता को स्पष्ट कर देता है और इस बात को सिद्ध कर देता है कि यह अन्तर्विरोध, जो पूँजीवाद के समस्त अन्तर्विरोधो की जड़ है, अनिवार्य रूप से बराबर बढता ही जायगा। पूँजीवाद का असमाधेय अन्तर्विरोध (insoluble contradiction) यह है कि प्रकृति के ऊपर मानव की सत्ता का विस्तार करने के साथ-साथ, मेहनतकश जनता के अस्तित्व की असुरक्षा तथा उसकी कंगाली को भी वह लगातार बढ़ाता जाता है। ऐतिहासिक विकास की प्रगति की अनुपेक्ष्य माँग है कि पूँजीवाद के स्थान पर समाजवाद की स्थापना करके इस अन्तर्विरोध का अन्त किया जाय।

पूँजीवाद के अन्तर्गत मशीनें क्या भूमिका अदा करती हैं?

मुनाफ़े की तलाश में, पूँजी ने सामाजिक उत्पादन की सम्पूर्ण व्यवस्था में आमूल क्रान्ति कर दी है। हाथ के श्रम पर आधारित छोटे पैमाने के उत्पादन के स्थान पर उसने मशीनों पर आधारित बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों की सृष्टि कर दी है। फैक्ट्रियों की अभूतपूर्व गति से वृद्धि हुई है। इन फैक्ट्रियों ने छोटे उत्पादकों का सफाया कर दिया है। पूँजीवाद इन्हीं मशीनों की वजह से सारी दुनिया में फैल सका है। मशीनें काम के दिन के उस भाग को घटा देती हैं जिसमें मजदूर

स्वयम् अपने लिए कार्य करता है और काम के दिन के उस भाग को वे बढ़ा देती हैं जिसमें वह पूंजीपतियों के लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है।

पूँजीवाद के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में मशीनों के इस्तेमाल का मज़दूरों ने अत्यन्त उग्रता से विरोध किया था। मशीनों ने हाथ से काम करने वाले मजदूरों के भारी समुदायों से उनकी रोज़ी छीन ली है और भूखों मरने के लिए उन्हें घूरे पर फेंक दिया है। मजदूरों के प्रथम विरोध ने मशीनों को तोड़-फोड़ करने का रूप लिया था। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में बड़े पैमाने पर मशीनों का लगना जब पहले-पहल शुरू हुआ तो ब्रिटेन में "मशीन तोड़ने वालों" (लुड्डाइटों) का एक व्यापक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। बाद में दूसरे देशों में भी, जहाँ मशीनों पर आधारित पूंजीवादी उद्योग-धन्धों के विकास के फलस्वरूप श्रमजीवी जनता के सिर पर गरीबी और तबाहियों के पहाड़ टूटने लगे थे, इसी तरह के आन्दोलन तेज़ी से उठ खड़े हुए थे।

सम्पत्ति-विहीन, हर चीज से वंचित, और हताश-निराश लोगों के इस प्रकार के भोले-भाले विरोधों से मशीनों पर आधारित उद्योगों की विजयी प्रगति-यात्रा रुक न सकी। बाद में, छिट-पुट स्वयम्-स्फूर्त विरोधों का रास्ता छोड़कर अपने बुनियादी हितों के लिए सचेत रूप से संघर्ष करने का रास्ता जब मजदूरों ने ग्रहण किया, तब वे समझ गये कि मजदूर वर्ग की दुश्मन वास्तव में मशीनें नहीं हैं, बल्कि उनका वास्तविक दुश्मन उनको इस्तेमाल करने का पूंजीवादी तरीका है। मजदूर वर्ग को जो भयंकर तकलीफ़ें भोगनी पड़ती हैं उनका कारण स्वयं मशीनें नहीं हैं, बल्कि पूंजीवादी ढंग से किया जाने वाला उनका उपयोग है।

मशीनों का पूँजीवादी ढंग से इस्तेमाल करने से कौन अन्तर्विरोध पैदा होते हैं ?

जहाँ तक मशीनों का सम्बन्ध है, वे श्रम को कम करतीं और बचाती हैं। किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था मे वे काम के दिन को लम्बा करने का साधन बन जाती हैं। लाखो मजदूरों को वे बेकार कर देती हैं और वे निकाल बाहर किये जाते हैं। मशीनों को चलाने के लिये अक्सर न तो किसी विशेष ट्रेनिंग की ज़रूरत होती है और न उतने अधिक शारीरिक उद्यम की ही जितना हाथ से काम करने पर आवश्यक होता है। मशीनों का उपयोग शुरू करते समय पूँजीपतियों ने मजदूरों की पत्नियों और बच्चों को भी भारी संख्या में काम में लगा लिया था। स्त्रियो और बच्चो को मर्दों से कम मजदूरी दी जाती थी। मशीनें पूँजी के हाथ मे श्रमजीवी मजदूरों को अधिकाधिक गुलाम बनाने तथा उनके शोषण को तेज करने का साधन बन गयी।

आमतौर से मशीनें श्रम को हल्का बनाती हैं। किन्तु पूँजीवादी समाज में श्रम की तीव्रता को वे इतना ज्यादा बढा देती हैं कि मजदूरों के ऊपर उसका भयानक असर पड़ता है। मजदूरों को थकाकर वे क्षीण कर देती हैं और काम करने की उनकी क्षमता तथा उनके जीवन तक को छोटा कर देती हैं।

प्रकृति के विरुद्ध मनुष्य के संघर्ष में मशीनें खुद उसकी अत्यन्त वफ़ादार सहायक होती है। किन्तु पूँजीवादी समाज में वे शोषितो के खिलाफ शोषकों के संघर्ष के अस्त्र बन जाती है। उनकी सहायता से पूँजीपति मजदूरों का शोषण करते है और बढते हुए अपने शोषण के खिलाफ़ उनके प्रतिरोध को तोड़ने की कोशिश करते हैं।

श्रम की उत्पादकता को बढाकर मशीनें समाज की धन-सम्पदा में वृद्धि करती हैं। किन्तु पूजीवादी समाज मे श्रम की उन्चतर उत्पादकता के समस्त फलो को पूजीपति हड़प लेते है और मजदूर वैसे ही के वैसे गरीब और अरक्षित बने रहते है।

उत्पादन के क्षेत्र में विज्ञान के उपयोग के लिए, श्रम को अधिक सृजनात्मक बनाने के लिए, मशीनें विराट् नयी सम्भावनाओं के द्वार उन्मुक्त कर देती हैं। किन्तु पूंजीवादी समाज मे मजदूर को मशीनों का पुछल्ला बना दिया जाता है। पहले जब काम हाथ से किया जाता था तब मजदूर की ट्रेनिंग, कार्यकुशलता तथा सूझ-बूझ पर बहुत-कुछ निर्भर करता था। लेकिन मशीनो का इस्तेमाल होने लगने से एक मजदूर को हटाकर दूसरे को रख लेना पूंजीपतियो के लिए आसान हो गया है। मशीनो को बनाने और उनमे सुधार करने, आदि की जिम्मेदारी केवल इन्जीनियरो और टेक्नीशियनो पर होती है। मजदूरों को तो सिर्फ़ वे काम करने पड़ते हैं जिनमें शारीरिक श्रम की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार, मशीनों के उपयोग से पूंजीवादी समाज में गहरे तथा तीव्र अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। जब तक पूंजीवादी व्यवस्था कायम है तब तक ये अन्तर्विरोध भी नही मिट सकते। पूंजीवादी समाज के अन्दर अपनी स्थिति को मजदूर जैसे-जैसे समझने लगते हैं वैसे ही वैसे इस बात को भी वे जानने लगते हैं कि मशीनों के पूंजीवादी इस्तेमाल में कौन-कौन अन्तर्विरोध हैं। वे समझने लगते हैं कि यद्यपि मशीनों पर आधारित उद्योग-धन्धों को पूजीवाद ने ही जन्म दिया है किन्तु, साथ ही साथ, प्राविधिक प्रगति श्रमजीवी जनता के हितों मे, सम्पूर्ण समाज के हितो मे इस्तेमाल किये जाने के मार्ग में वह बाधक है।

पूँजीवाद के ख़िलाफ़ किया जाने वाला संघर्ष क्या प्रौद्योगिक प्रगति के ख़िलाफ़ संघर्ष है ?

पूँजीवादी व्यवस्था के भक्त मशीनो के पूँजीवादी ढंग से इस्तेमाल किये जाने के अतिरिक्त और किसी ढंग से इस्तेमाल किये जाने की कल्पना तक नही कर पाते । इसलिए जो भी व्यक्ति मशीनों के पूँजीवादी इस्तेमाल के अन्तर्विरोध को जाहिर करता है उसे वे तुरन्त सामाजिक प्रगति का शत्रु घोषित कर देते है । इस बकवास का पर्दाफाश करते हुए मार्क्स ने कहा था कि ऐसे लोगों की दलीलें डिकेन्स की रचना, "ओलीवर ट्विस्ट" के गला काटने वाले पात्र की बातों की याद दिलाती है । ओलीवर ट्विस्ट के उस पात्र ने अदालत मे निम्न भाषण दिया था :

"महापंचो ! इसमे सदेह नही कि घूमने-फिरने वाले सौदागर का गला कट गया है । किन्तु इसमें मेरा कोई कसूर नही है, इसमें कसूर है चाकू का । तो क्या इस तरह की एक अस्थायी असुविधा की वजह से हम चाकू का इस्तेमाल करना बन्द कर दे सकते हैं ? जरा विचार तो कीजिए ! चाकू न होगा तो खेती और रोजगार का क्या होगा ? क्या शल्य-चिकित्सा के कार्य मे वह उतना ही फ़ायदेमन्द नहीं होता जितना कि शरीर-शास्त्र के सम्बन्ध में आदमी का ज्ञान लाभदायक होता है ? इसके अलावा, औत्सविक भोज, आदि के अवसरो पर भी वह कितना सहायक होता है ! अगर आप चाकू को खतम कर देंगे—तो आप हमें बर्बरता के गह्वरो मे वापस ढकेल देंगे ।"

मशीनों पर आधारित पूँजीवादी उद्योग की वजह से जो मुसीबतें पैदा होती है उनके बारे में बात करते समय पूँजीवाद के हिमायती भी कुछ इसी तरह की दलीलें देते हैं । वे कहते हैं : "अस्थायी असुविधाओं की वजह से क्या हम मशीनों का इस्तेमाल करना बन्द कर दें ?"

किन्तु अपने अधिकारों और हितों के लिए लड़ने वाले वर्ग-सचेत मजदूर इस बात की कभी माँग नही करते कि प्रौद्योगिक प्रगति के मार्ग को तिलाजलि दे दी जाय। इसके विपरीत, वे तो उसके सबसे सच्चे समर्थक है।

वे इस बात को समझते हैं कि उनकी लड़ाई मशीनों से नही है। वे जानते हैं कि इस तरह की लड़ाई न केवल निरर्थक, बल्कि प्रतिक्रियावादी भी होगी, क्योंकि मशीनों पर आधारित उत्पादन के बजाय हाथ के श्रम पर आधारित उत्पादन की दिशा में इतिहास को फिर से वापस ले जा सकना असम्भव है। उनकी लड़ाई पूँजीवादी शोषण से है—उस शोषण से जो प्रौद्योगिक प्रगति के समस्त फलो को छीनकर काम न करने वाले ठलुए वर्गों के हाथ मे रख देता है और समाज की सम्पदा के वास्तविक उत्पादकों को, आम मेहनतकश जनता को दुखी और कष्टमय जीवन बिताने के लिए बाध्य करता है।

वर्ग चेतना प्राप्त करके मज़दूर जब समाजवाद के लिए संघर्ष करने वाले योद्धा बन जाते है तब प्रौद्योगिकी के विकास तथा मशीनों पर आधारित बड़े पैमाने के उद्योग-धन्धों की वृद्धि के महत्व को भी वे भली-भाँति समझने लगते है। वे समझ जाते हैं कि ये चीजें उन परिस्थितियों को तैयार करने के काम में प्रमुख भूमिका अदा करती हैं जो पूंजीवाद को हटाकर उसके स्थान पर एक नयी, उच्चतर, समाजवादी व्यवस्था की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए अति आवश्यक हैं।

पूंजीवादी समाज में आर्थिक संकट क्यो अनिवार्य हैं ?

पूँजीवादी व्यवस्था एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है जिसमे

अराजकता का, अर्थात्, योजना-हीन उत्पादन का बोलबाला रहता है। प्रत्येक कारखाने के अन्दर पूंजी सैकड़ों और हजारों मजदूरों के श्रम को संगठित कर देती है। किन्तु जहां तक सम्पूर्ण सामाजिक उत्पादन की बात है, उसके क्षेत्र में निजी सम्पत्ति का ही मनमाना शासन चलता है। उसके अन्दर योजनाविहीनता तथा विशृंखलता दिनोंदिन बढ़ती तथा फैलती जा रही है। सभी पूंजीपति चाहते हैं कि वे बड़े से बड़े मुनाफे कमायें। इसकी वजह से उनके बीच एक खूंखार संघर्ष चलने लगता है। प्रतिद्वन्द्विता की इस लड़ाई में प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक चीज़ों पर कब्ज़ा करने की और, सम्भव हो तो, अपने प्रतिद्वन्द्वियों को दबाने और कुचलने की चेष्टा करता है। भेड़ियों के गिरोहों की तरह पूंजीवाद की इस दुनिया में भी वही जिन्दा रह सकते हैं जो मजबूत हैं और अपने से कमज़ोर लोगों को गिरा कर उन पर अपना आधिपत्य कायम कर सकते हैं। उत्पादन की अराजकता पूंजीवाद का एक नियम है।

इसके अलावा, उत्पादन की जो दो मुख्य आवश्यकताएं हैं उनके बीच एक खाई का होना भी पूंजीवादी समाज की एक खास विशेषता है। उसके अन्तर्गत उत्पादन के साधन पूंजीपतियों के हाथों में सकेन्द्रित हो जाते हैं और मज़दूरों से उनकी श्रम-शक्ति को छोड़कर हर चीज़ छीन ली जाती है। यह खाई अति-उत्पादन के संकट के समय और भी नुमाया तौर से सामने आ जाती है। उस समय एक दूषित चक्र कायम हो जाता है। एक तरफ़ तो फालतू उत्पादन के साधनों और मालों का अम्बार लग जाता है और, दूसरी तरफ, बेकार श्रम-शक्ति जमा हो जाती है, बेकारों की ऐसी भीड़ पैदा हो जाती है जिनके पास मालों को खरीदने के लिए पैसे नहीं होते।

पूंजीवादी उत्पादन की यह अराजकता तथा श्रम का पूंजी द्वारा

पूंजीवाद के अन्तर्गत अत्युत्पादन के संकटों का पैदा होना अनिवार्य है, मुनाफों की तलाश में पूजीपति भिन्न-भिन्न मालो के उत्पादन को वेहद बढ़ा देते हैं। किन्तु बिना किसी योजना के, वाजार की वास्तविक जरूरतों का ठीक लेखा-जोखा किये बिना उत्पादन का यह अन्तहीन विस्तार बहुत दिनों तक नही चल सकता। इसलिए, लाजमी तौर से, एक समय ऐसा भी आ जाता है जिसमे मालो का वेचना इसलिए असम्भव हो जाता है कि उन्हे "जरूरत से ज्यादा" मात्रा में तैयार कर लिया गया है !

किन्तु क्या सचमुच ही "जरूरत से ज्यादा" कोयला, गल्ला अथवा कपडे तैयार कर लिये गये हैं ? क्या सचमुच "आवश्यकता से अधिक" मकानो का निर्माण कर लिया गया है, आदि-आदि ? नही, कदापि नही। सकट के समय रोटी, कोयले और कपड़े की जरूरत वेहद बढ जाती है—सम्भवतः संकट के पहले इन चीजों की जितनी जरूरत होती थी उससे भी ज्यादा बढ़ जाती है; किन्तु लोगो की आमदनी के घट जाने की वजह से जन संख्या के विशाल बहुमत की माँगें बहुत छोटी हो जाती हैं। वे अनाज नही खरीद सकते, क्योंकि उनकी जेबें खाली होती है। ईंधन की उन्हे सख्त जरूरत होती है, लेकिन वे उसे खरीद नही सकते—क्योंकि उनके पास पैसा नही होता। पहनने के लिए उनके पास कुछ नही होता, लेकिन नये कपड़े खरीदने की उनकी हैसियत नही रहती !

इसका मतलब होता है कि मालों की जरूरत से ज्यादा मात्रा तैयार कर ली गयी है—जनता के विशाल बहुमत की वास्तविक आवश्यकताओं के मुकाबले में नही, बल्कि उनकी खरीदने की शक्ति के मुकावले में। पूंजीवाद जनता की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति करने की जरा भी परवाह नहीं करता। पूंजीपतियों की दिलचस्पी किसी

किया जाने वाला शोषण आर्थिक अत्युत्पादन के संकटों को अनिवार्य बना देते है। ये संकट पूंजीवादी देशों को समय-समय पर घेर लेते हैं।

अति-उत्पादन के क्या कारण हैं ?

ब्रिटेन को कोयले की खदानों में काम करने वाले खनिको के जीवन का वर्णन करने वाली एक किताब में निम्न बातचीत उद्धृत की गयी है। एक खनिक का वेटा अपनी मा से पूछता है :

"मा, तुम अंगीठी क्यों नही जलाती ? देखो तो, कितनी ठड है !"

मा उत्तर मे कहती है, "इसलिए बेटा कि हमारे पास कोयला नहीं है। तुम्हारे पिता बेकार है और हमारे पास रुपया नही है कि हम कोयला खरीद सकें।..... ."

"वे बेकार क्यो है ? उन्हे काम क्यो नही मिलता ?"

"क्योकि कोयले की बहुतायत है।..... ."

एक खनिक का परिवार ठड से इसलिए ठिठुरा जा रहा है कि खानों से "जरूरत से ज्यादा" कोयला निकाल लिया गया है ! संकट के समय करोड़ों मेहनतकश इन्सानों को, जिनमे किसान भी शामिल होते हैं, इसलिए भूखों मरना पड़ता है कि ग़ल्ला "जरूरत से ज्यादा" पैदा हो जाता है ! देश मे उत्पादन के साधन ज़रूरत से ज़्यादा हैं, उपभोज्य वस्तुओं तथा जन-शक्ति की भी भरमार है, किन्तु फैक्ट्रियाँ बन्द कर दी गयी हैं और रेलों के इंजन ठडे और सुस्त खड़े है, अनाज खेतो मे सड रहा है और भण्डार मालो से फटे पड़ रहे है। मजदूरो के पास कोई काम नही हैं और उनके घरवाले बेहद मुसीबतो मे मर रहे हैं।......यही पूजीवादी सकट की तस्वीर है।

पूजीवाद के अन्तर्गत अत्युत्पादन के संकटो का पैदा होना अनिवार्य है, मुनाफ़ों की तलाश में पूंजीपति भिन्न-भिन्न मालों के उत्पादन को बेहद बढ़ा देते हैं। किन्तु बिना किसी योजना के, बाज़ार की वास्तविक जरूरतों का ठीक लेखा-जोखा किये बिना उत्पादन का यह अन्तहीन विस्तार बहुत दिनों तक नही चल सकता। इसलिए, लाजमी तौर से, एक समय ऐसा भी आ जाता है जिसमें मालो का बेचना इसलिए असम्भव हो जाता है कि उन्हें "जरूरत से ज्यादा" मात्रा मे तैयार कर लिया गया है!

किन्तु क्या सचमुच ही "जरूरत से ज्यादा" कोयला, गल्ला अथवा कपडे तैयार कर लिये गये है? क्या सचमुच "आवश्यकता से अधिक" मकानों का निर्माण कर लिया गया है, आदि-आदि? नहीं, कदापि नही। सकट के समय रोटी, कोयले और कपड़े की ज़रूरत बेहद बढ़ जाती है—सम्भवतः संकट के पहले इन चीज़ों की जितनी जरूरत होती थी उससे भी ज़्यादा बढ़ जाती है; किन्तु लोगों की आमदनी के घट जाने की वजह से जन संख्या के विशाल बहुमत की मांगें बहुत छोटी हो जाती है। वे अनाज नही खरीद सकते, क्योंकि उनकी जेबें खाली होती हैं। ईंधन की उन्हें सख्त जरूरत होती है, लेकिन वे उसे खरीद नही सकते—क्योंकि उनके पास पैसा नहीं होता। पहनने के लिए उनके पास कुछ नहीं होता, लेकिन नये कपड़े खरीदने की उनकी हैसियत नही रहती!

इसका मतलब होता है कि मालों की जरूरत से ज्यादा मात्रा तैयार कर ली गयी है—जनता के विशाल बहुमत की वास्तविक आवश्यकताओं के मुकाबले में नही, बल्कि उनकी खरीदने की शक्ति के मुकाबले मे। पूंजीवाद जनता की आवश्यकताओं की सम्पूर्ति करने की जरा भी परवाह नही करता। पूंजीपतियों की दिलचस्पी किसी

और ही चीज़ में होती है : उनकी दिलचस्पी इस चीज में होती है कि जो माल तैयार किया गया है उसे वे ऐसे दामों पर बेचें जिसमे कि उन्हें काफ़ी भारी मुनाफा हासिल हो। किन्तु संकट के समय इस चीज़ की कोई गुंजायश नहीं रह जाती। तैयार किये गये मालों की विशाल राशियों तथा जन संख्या की समर्थ माँगो के बीच एक ज़बर्दस्त खाई पैदा हो जाती है—और पूंजीवादी समाज के अन्दर पैदा होने वाले आर्थिक संकटों का यही चीज़ प्रत्यक्ष कारण होती है।

सकटों से क्या नुकसान होता है?

संकट के समय मेहनतकश लोग अपनी आवश्यक से आवश्यक जरूरतो को भी पूरा नही कर पाते। साथ ही, कीमतों को ऊँचा बनाये रखने के लिए उत्पादित मालो के एक काफ़ी बड़े भाग को पूँजीपति नष्ट कर देते हैं। उपयोगी वस्तुओं के विशाल ऐसे अम्बारों को, जिन्हे जन सख्या की घटी हुई क्रय-शक्ति के कारण बेचा नही जा सकता, जला दिया जाता है, समुद्रों में फेंक दिया जाता है, भण्डारों मे सड़ने के लिए छोड दिया जाता है, या कूड़े-करकट में बदल दिया जाता है!

१९२९–१९३३ के संकट के समय अमरीका में गेहूँ और मक्के का इस्तेमाल कोयले की जगह ईंधन के रूप में किया गया था; दसियों लाख सुअरों को मारकर नष्ट कर दिया गया था, और कपास की फ़सल के एक बड़े भाग को खेतों में ही सड जाने के लिए छोड़ दिया गया था। ब्राजील में काफी के दसियों लाख बोरे समुद्र में डुबो दिये गये थे। डेनमार्क में गायों के झुण्ड के झुण्ड नष्ट कर दिये गये थे। फ्रान्स और इटली में हज़ारों टन फल नष्ट कर दिये गये थे। संकट

अर्थ-व्यवस्था के अन्दर बेहद तबाही ला देते है और करोड़ो लोगों की कठिन मेहनत-मशक्कत के फलों को बर्बाद कर देते हैं।

संकटों के समय समाज की उत्पादक शक्तियाँ मूर्खतापूर्ण ढंग से नष्ट कर दी जाती हैं; मशीनो को बेकार खड़े-खड़े जंग लगता है, फैक्ट्रियों की इमारतें खड़ी-खड़ी जर्जर हो जाती है, दसियो लाख लोग लम्बे कालो के लिए वेकारी का जीवन बिताने के लिए बाध्य हो जाते है। अनुमान लगाया गया है कि १९२९–१९३३ के संकट के ४ वर्षों मे जितनी धन-सम्पदा का नुकसान हुआ था उसकी मात्रा उस क्षति से किसी प्रकार कम नही थी जो १९१४–१९१८ के विश्वयुद्ध के ४ वर्षो मे हुई थी।

एक अमरीकी अखबार ने निम्न आकड़े प्रकाशित किये थे : केवल १९३४ में, अर्थात् १९२९–१९३३ के अत्यन्त गम्भीर तथा सत्यानाशी संकट के बाद वाले वर्ष में, पूंजीवादी देशो मे २४ लाख लोग सिर्फ़ भूख से मर गये थे। उसी साल दस लाख गाड़ियों से अधिक गल्ला, २ लाख ६७ हज़ार गाड़ियाँ काफी, २ लाख ५८ हज़ार टन चीनी, २५ हज़ार टन चावल, २५ हज़ार टन गोश्त तथा दूसरी अनेक वस्तुओं की विशाल राशियाँ नष्ट कर दी गयी थी।

पूंजीवादी अर्थशास्त्री संकटों के असली स्वरूप तथा कारणों को छिपाने की कोशिश कर रहे हैं। इस बात को छिपाने के प्रयत्न में कि पूंजीवादी व्यवस्था मे संकटों का होना अनिवार्य होता है, वे यह कहते है कि संकटो का कारण कोई न कोई आकस्मिक चीज होती है। वे दावा करते हैं कि संकटो के ऐसे तमाम कारणो को पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही मिटा दिया जा सकता है। वे कहते है कि अन्ततोगत्वा सकटों का कारण या तो अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न शाखाओं की आनुपातिकता मे हो जाने वाली कोई आकस्मिक गड़बड़ी होती है, या "कम

खपत" । इन कारणों को दूर करने के लिए फिर वे हथियारों की दौड़ तथा युद्ध का रास्ता बतलाते हैं ।

वास्तव में, पूंजीवादी समाज व्यवस्था में उत्पादन की अनुपातहीनता (disproportionality in production) तथा "कम खपत"—दोनों में से कोई भी चीज आकस्मिक नहीं होती; ये दोनों ही पूंजीवादी व्यवस्था की ऐसी अनिवार्य व्याधियाँ हैं जिन्हें उससे विलग नहीं किया जा सकता ।

संकटों के बीच के कालों में पूंजीपति वर्ग के हिमायती बड़े-बड़े वक्तव्य देकर आमतौर से एलान कर देते हैं कि संकटों का अन्त कर दिया गया है और विकास के मार्ग में आगे अब किसी प्रकार के संकट नहीं आयेंगे । किन्तु इस तरह की घोषणाओं तथा उन तमाम मिथ्या उपायों को, जो पूंजीवाद को संकटों से मुक्त करने के ये लोग बताते हैं—जीवन जल्दी ही झूठा साबित कर देता है ।

३. पूँजीवादकी एकाधिकारी अवस्था—साम्राज्यवाद

साम्राज्यवाद की ओर किस प्रकार संक्रमण हुआ ?

पूर्व-एकाधिकारी पूंजीवाद (pre-monopoly capitalism) से एकाधिकारी पूंजीवाद की ओर, अर्थात् साम्राज्यवाद की ओर संक्रमण की क्रिया की शुरुआत १९वीं शताब्दी के अन्तिम तृतीय भाग में हुई थी। साम्राज्यवाद—पूंजीवाद की चरम तथा अन्तिम अवस्था है। २०वी शताब्दी के नजदीक पहुँचते-पहुँचते उसका पूर्ण विकास हो गया था।

पुराने, पूर्व-एकाधिकारी पूंजीवाद से साम्राज्यवाद की ओर संक्रमण पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के आर्थिक नियमों की वजह से हुआ था। आपसी प्रतियोगिता के दौरान बड़े उद्योगों ने छोटे-छोटे उद्यमों को समाप्त कर दिया था। इस प्रक्रिया में न केवल कारीगरों को, बल्कि छोटे पूंजीपतियों को भी उसने तबाह कर दिया था। औद्योगिक उत्पादन का अधिकांश भाग अधिकाधिक मात्रा में थोड़े-से बड़े-बड़े और सबसे अधिक शक्तिशाली उद्योगों में केन्द्रित हो गया था। इस तरह के उद्योगों में हजारों, और कभी-कभी तो दसियों हजार मजदूर काम करते हैं। इन विशाल कारखानों में, जिनकी संख्या औद्योगिक रूप से विकसित प्रत्येक पूंजीवादी देश के कुल औद्योगिक संस्थानों की केवल एक या दो प्रतिशत होती हैं, आमतौर से श्रमिकों की अधिकांश

संख्या काम करती है और मालों का अधिकांश भी उन्ही के अन्दर पैदा होता है। असंख्य छोटे-छोटे तथा मझोले कारखाने इन भीमकाय कारखानों का कोई मुकाबला नही कर सकते।

इस प्रकार, उत्पादन और पूंजी का अत्यधिक सकेन्द्रीकरण हो जाता है। उत्पादन का केन्द्रीकरण जब बहुत हो जाता है तो उससे इजारेदारियां पैदा हो जाती है।

प्रत्येक उद्योग के अन्दर उत्पादन जब तक सैकड़ों-हज़ारो छोटे-छोटे और मझोले आकार के स्वतन्त्र उद्यमों मे बिखरा रहता है, तब तक एकाधिकार की ओर सक्रमण कठिन होता है। किन्तु उत्पादन के सकेन्द्रीकरण से परिस्थिति बदल जाती है। सकेन्द्रीकरण के फलस्वरूप, किसी उद्योग मे जब केवल दर्जन-दो दर्जन विशालकाय उद्यम रह जाते हैं तब उनके लिए आपस में समझौता कर लेना अतुलनीय रूप से आसान हो जाता है। मझोले आकार के सैकड़ों या छोटे-छोटे हजारों उद्यमों के मौजूद रहते हुए इस प्रकार का समझौता करना उस उद्योग में आसान नही होता। इसके अलावा, उद्यमों का विशाल आकार स्वयम् उनके मालिको को बाध्य कर देता है कि बाजार का मिल-जुल कर शोषण करने के लिए वे आपस में समझौता करें।

इजारेदारियो का आधिपत्य ही साम्राज्यवाद का बुनियादी लक्षण है। इसीलिए साम्राज्यवाद को एकाधिकारी पूंजीवाद कहा जाता है।

इजारेदारी क्या है?

प्रसिद्ध अमरीकी लेखक, ओ० हेनरी की एक छोटी-सी कहानी है। अत्यन्त मज़ाकिया ढंग से उसमें बतलाया गया है कि प्रत्येक इजारेदारी की क्या बुनियाद होती है। एक बार किसी बाढ के कारण

दो ठग एक छोटे से क़स्बे मे फंस गये। शेष दुनिया से उनका सम्बन्ध टूट गया। शाम को उन्होने कस्बे की तीनो मधुशालाओं को खरीद लिया और उनकी सारी मदिरा को उठाकर एक मदिरालय में जमा कर लिया। शेष दो को उन्होने बन्द कर दिया। अगले दिन से शहर के मदिरा पीने वालो को तीन गुना अधिक दाम देने पडे। इस स्थिति को देखकर वे चकित रह गये।

इजारेदारी के मुख्य लक्षण को यह कहानी बडे मज़े से स्पष्ट कर देती है। इजारेदारी प्रतियोगिता को समाप्त कर देती है। जिस समय तक तीनों मदिरालय खुले थे उनके बीच मुक्त प्रतियोगिता चलती थी। इसकी वजह से उनके मालिक कीमत बहुत नही बढा सकते थे। किन्तु जब ठगों ने समस्त मदिरा को खरीद लिया तो परिस्थिति बदल गयी। मदिरा पर उनका एकाधिकार कायम हो गया। इसका इस्तेमाल उन्होंने कीमतों को बढ़ाने और भारी मुनाफ़ा कमाने के लिए किया।

इजारेदारियां कई रूप और किस्म की होती है। किन्तु उनकी एक आम परिभाषा निम्न हो सकती है: इजारेदारी एक ऐसा विशाल पूंजीवादी निगम (Corporation) अथवा इस तरह के निगमो का संघ होता है, पूंजीपतियों का एक ऐसा जाल होता है जो किसी माल के उत्पादन और बिक्री के विशाल भाग को अपनी मुट्ठी मे कर लेने के बाद, प्रतियोगिता को सीमित कर देता है और वस्तुओ की एकाधिकारी कीमतो पर बिक्री करके ऊँचे एकाधिकारी मुनाफ़े वसूलता है।

पूंजीवादी देशों मे नाना प्रकार की इजारेदारियां पायी जाती हैं। उनमे से कुछ किसी खास माल को पैदा करने और बेचने के एक अल्पकालिक समझौते के रूप में होती है, और कुछ ऐसे विशालकाय संघों के रूप में होती हैं जिनका अर्थ-व्यवस्था की भिन्न-भिन्न शाखाओं पर क़ब्ज़ा होता है और जो अनेक प्रकार के मालो का उत्पादन करते हैं।

किन्तु इजारेदारियों के रूप चाहे जितने भिन्न हों, उनका लक्ष्य एक ही होता है : उत्पादन और बाजार पर कब्जा करना और अपने इस कब्जे का इस्तेमाल करके अतिरिक्त मुनाफे हासिल करना।

पिछले कुछ दशकों में इजारेदारियों के आकार और वजन तथा पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था में उनकी भूमिका में जबर्दस्त वृद्धि हो गयी है।

क्या अमरीका में कोई बादशाह भी हैं?

सब लोग जानते हैं कि संयुक्त राष्ट्र अमरीका एक प्रजातंत्र है। एकराजतंत्र (monarchy) वहां कभी नहीं रहा। इसलिये इस तरह का प्रश्न केवल एक व्यर्थ की बात लग सकता है। इसके बावजूद, अमरीका में दुनिया के तमाम एकराजतंत्रों के कुल जोड़ से भी अधिक बादशाह हैं। वहां तेल और इस्पात के बादशाह हैं; अल्यूमीनियम, रेलों, मोटरों, कोयले और अखबारों के बादशाह हैं; बैंकों के राजवंश हैं; और यहां तक कि सुअर के गोश्त और चुइंग-गम के भी बादशाह हैं।

राजा-महाराजा अपने को ईश्वर द्वारा अभिषिक्त मानते हैं, किन्तु इन अमरीकी शाहंशाहों का अभिषेक उनका स्वयम् का ईश्वर, पूंजी का ईश्वर करता है। प्राचीन अथवा आधुनिक काल के किसी मुकुटधारी सम्राट ने उस शक्ति और साम्पत्तिक वैभव की कल्पना तक नहीं की होगी जो इन अमरीकी सम्राटों को प्राप्त है।

रौकफेलर परिवार में पांच भाई और एक चर्ची हैं। अमरीका तथा सम्पूर्ण दुनिया के वे सबसे धनी लोग हैं। वे तेल के सम्राट हैं। तेल के उनके क्षेत्र अमरीका, वेनेजुएला, ईरान तथा पूर्वी अरब के देशों में दूर-

दूर तक फैले हुए है। वे न जाने कितने खनिक निगमों (mining corporations), बैंकों, रेलो, बीमा कम्पनियों तथा अन्य कारोबारों के एकछत्र स्वामी है। रौकफेलर परिवार के कब्जे में जो उद्यम है उनका कुल मूल्य छः हज़ार करोड़ (६,००० करोड़) डालर से भी अधिक है।

मौर्गन का शक्तिशाली घराना रौकफेलर घराने का प्रतिद्वन्द्वी है। ये लोग इस्पात के बादशाह है। किन्तु इनकी सल्तनत अनेक बैंकों, बीमा कम्पनियों, रेलो, सार्वजनिक सेवाओ तथा और भी अनेक उद्यमों तक फैली हुई है। मौर्गन घराने के कब्जे में जो कुल धन-सम्पत्ति है उसका मूल्य ६,५०० करोड़ डालर से भी अधिक है।

रौकफेलर और मौर्गन अमरीका के सबसे बड़े धन्नासेठ है। ६ और बड़े-बडे वित्तीय गुटो के साथ मिलकर जिन बैंकों, औद्योगिक संस्थानों, बीमा कम्पनियो, रेलो तथा अन्य कारोबारो के ऊपर वे काबिज हैं उनका मूल्य २१,८०० करोड़ डालर से भी अधिक है। यह विराट धन-राशि अमरीका के समस्त निगमो के साधनों के चौथाई भाग से भी बडी है।

अमरीका को ट्रस्टो (न्यासों) का देश कहा जाता है। यह सर्वथा सही है। अमरीका की सबसे बड़ी इजारेदारियाँ हज़ारों-लाखों मजदूरों का शोषण करती हैं और करोड़ों-अरबों डालर की पूजी कन्ट्रोल करती है। उनकी सम्पत्ति प्रायः सम्पूर्ण पूंजीवादी दुनिया मे फैली है। उदाहरण के लिए, जनरल मोटर्स को ले लीजिए। यह अमरीका की विशालतम इजारेदारियों में से एक है। इसकी १०२ फैक्ट्रियाँ अमरीका में हैं और ३३ बाहर के देशों में। वे ब्रिटेन, पश्चिम जर्मनी, फ्रान्स, कनाडा तथा कई एशियाई और अफ्रीकी देशों में फैली हुई हैं। मोटरों के इस भीमकाय ट्रस्ट (न्यास) की मिल्कियत लगभग २० पूंजीवादी देशों में

फैली है। उसके कारखानों में लगभग ५ लाख मजदूर काम करते हैं।

अमरीका की एक और इजारेदार कम्पनी है— युनाइटेड फ्रूट कम्पनी। यह कम्पनी मध्य तथा दक्षिण अमरीका के देशों के केले तथा अन्य फलों के उत्पादन, उनके लाने-ले जाने की व्यवस्था तथा व्यापार पर पूरे तौर से हावी है। इन देशों के सन-उद्योग, ताड़ के तेल के उत्पादन, गन्ने, कोको तथा मूल्यवान लकडियों, आदि के उत्पादन पर भी उसी का पूर्ण नियंत्रण है। संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा आठ अन्य अमरीकी देशों में युनाइटेड फ्रूट कम्पनी की लगभग २० लाख हेक्टर अपनी भूमि है, १५०० किलोमीटर से अधिक लम्बाई की उसकी अपनी रेलें हैं, ६५ व्यापारिक जहाजों का उसका स्वयं अपना एक पूरा बेडा है तथा स्वयम् अपने रेडियो स्टेशन और तार की लाइनें है।

नवीनतम आँकडो के अनुसार, अमरीका के हर उद्योग की चार सबसे बड़ी कम्पनियो ने वहाँ के रेलवे वैगनो (डिब्बों) के १०० प्रतिशत, यात्री गाड़ियों के ९८ प्रतिशत, काच के फलको (sheet glass) के ९८ प्रतिशत, टरबाइनों और जनरेटरों के ९७ प्रतिशत, ताम्रपत्रों के ९४ प्रतिशत, और बिजली के बल्बों के ९३ प्रतिशत उत्पादन पर अपनी इजारेदारी क़ायम कर रखी है। वहाँ की आठ सबसे बडी कम्पनियाँ इस्पात तथा लोह-मिश्रित धातुओं (ferro-alloys) के ८२ प्रतिशत, टायर-ट्यूबों के ९१ प्रतिशत, तथा सिगरेटों के ९९ प्रतिशत उत्पादन को नियन्त्रित करती है।

इजारेदारियों के आधिपत्य के क्या परिणाम होते हैं?

अर्थ-व्यवस्था की पूरी की पूरी शाखाओं पर हावी होने की वजह

से इजारेदारियाँ मालों को बढ़े हुए मनमाने दामों पर बेचती हैं। आम तौर से क़ीमतें सम्बन्धित माल के उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक खर्चे के अनुरूप होती है, किन्तु एकाधिकारी क़ीमतें इन कीमतो से बहुत ऊँची होती है। एकाधिकारी क़ीमतो का सबसे भयकर असर यह होता है कि उनकी वजह से वास्तविक मजदूरी बहुत गिर जाती है। साथ ही, एकाधिकारी क़ीमतो की वजह से बड़े-बड़े इजारेदार उस अतिरिक्त मूल्य को भी हड़प लेते हैं जिसे ग़ैर-एकाधिकारी उद्योगों तथा उद्यमों में मजदूरों से जबर्दस्ती वसूल किया जाता है। अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए इजारेदारियाँ कोयला जैसे कच्चे मालो, तेल, लोहे की कच्ची धातु, तथा अन्य खनिज पदार्थों के स्रोतों पर भी कब्जा क़ायम कर लेती हैं। गल्ले के एलीवेटरों (उत्थापन यंत्रों), आटे की मिलों, गोदामों, कोल्ड स्टोरेज-गृहो तथा यातायात के साधनो पर अपना नियंत्रण कायम करके ये इजारेदारियाँ खेतिहर कच्चे मालों तथा खाद्यान्नों के बाजारो को भी अपने अधीन बना लेती हैं। किसानो और कारीगरों जैसे छोटे उत्पादकों से इजारेदारियाँ विशाल मात्रा में शुल्क (tribute) वसूल करती हैं। तैयार मालों को तो इन छोटे उत्पादकों को मजबूरन ऊँची एकाधिकारी क़ीमतों पर खरीदना पड़ता है, किन्तु अपनी उपज को इजारेदारियों के हाथ कम क़ीमतों पर ही बेचने के लिए वे बाध्य होते हैं। उन कीमतों के बीच जिन पर किसान कृषि की अपनी उपज को बेचता है और जिन पर उपभोक्ता उन्हें खरीदता है जो भारी फ़र्क होता है उसे इजारेदारियाँ स्वयं हड़प लेती हैं और इस तरह किसानो को वे तबाह करती हैं और उपभोक्ताओं को लूटती हैं। इजारेदारियाँ इस तरह जो जबर्दस्त शुल्क जनता से वसूलती है उसकी वजह से जनसंख्या के विशाल अंगो की गरीबी बढ़ जाती है और रहन-सहन की उनकी परिस्थितियाँ और

भी खराब हो जाती है। देश के बाजार में लोगों की क्रय-शक्ति घट जाती है तो इसका लाजमी नतीजा यह होता है कि विदेशी व्यापारों के लिए होने वाला संघर्ष और भी तेज हो जाता है।

इजारेदारियों के उत्पीड़न के खिलाफ़ जनता का असन्तोष बढ रहा है। यही कारण है कि इजारेदारियों से पैसा पाने वाले पूंजीवादी अर्थशास्त्री उनके आधिपत्य पर पर्दा डालने की और भी अधिक चेष्टा कर रहे हैं। इसी लक्ष्य को सामने रख कर कभी-कभी इजारेदारियो की सर्वशक्तिशालिता से भी वे इन्कार करने की कोशिश करते हैं। इसके लिए एकाधिकार तथा अल्प लोगो के अधिकार (monopoly and oligopoly) जैसे शब्दों का वाग्विलास करते हैं। (एकाधिकार या इजारेदारी का अर्थ एक का आधिपत्य तथा अल्प लोगो के अधिकार का अर्थ थोड़े से लोगो का आधिपत्य होता है।) इन शब्दों के शाब्दिक अर्थ को लेकर इजारेदारियो के हिमायती यह दिखलाने की कोशिश करते है कि वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था मे एकाधिकारियों का नहीं, बल्कि अल्पाधिकारियो का शासन है।

इसके अलावा, इजारेदारियो के विरोधियो को गलत सिद्ध करने के लिए वे झूठमूठ कहते हैं कि इन विरोधी लोगो की समझ यह है कि अर्थ-व्यवस्था की प्रत्येक शाखा पर एक ही कम्पनी का एकाधिकारी आधिपत्य है! वास्तव मे, इजारेदारियों की सर्वशक्तिशालिता का मतलब यह नही होता ; उसमें इस बात की भी गुजायश रहती है कि किसी उद्योग अथवा आर्थिक कार्यशीलता के क्षेत्र में कई बड़े-बड़े एकाधिकारी निगम बन जायँ और काम करते रहे।

प्रत्येक उद्योग मे कई-कई इजारेदारियां के अस्तित्व का अर्थ यह नहीं होता कि उनका आधिपत्य नही होता। इसके विपरीत, उनकी संख्या कई होने से उनका आधिपत्य और भी प्रत्यक्ष दिखलाई देने

लगता है, क्योंकि ऐसे विशाल एकाधिकारी अष्ट-बाहुओं (monopoly octopuses) का आपसी संघर्ष उनके विनाशकारी स्वरूप को और भी अधिक नग्न रूप में प्रकट कर देता है। इसलिए, अल्पाधिकार (oligopoly) शब्द को लेकर इजारेदारियों के वास्तविक आधिपत्य पर पर्दा डालने की ये कोशिशें कारगर नहीं होतीं।

वित्त पूंजी और वित्तीय अल्पमत किसे कहते हैं ?

साम्राज्यवादी व्यवस्था में बैंकें जो नयी भूमिका अदा करने लगती है उसकी वजह से इजारेदारियों का उत्पीडन खासतौर से अधिक बढ जाता है। प्रारम्भ में, भुगतान करने के सिलसिले में बैंकें बिचौलियों का काम करतीं थी। ज्यों-ज्यों पूंजीवाद का विकास हुआ त्यों-त्यो बैंकों का कार्यक्षेत्र भी बढ़ता गया। वे पूंजी की व्यापारी बन गयी; ऐसे लोगों से जिनके पास पूंजी होती और जो किसी कारणवश उस वक्त उसका इस्तेमाल करने में असमर्थ होते—एक निश्चित सूद की दर पर बैंकें उनकी पूंजी उधार ले लेती और फिर जिन व्यवसायियों को रुपयों की जरूरत होती उन्हे सूद की अधिक ऊँची दर पर वे कर्ज देती। जन संख्या के तमाम अगों की आमदनियों और बचतो को भी वे इकट्ठा करती और उन्हे पूंजीपतियों के लिए सुलभ कर देतीं।

कुछ जो सबसे बडी बैंकें थी वे और आगे बढ़ी; उन्होंने उद्योगों के क्षेत्र में प्रवेश किया। इन बैंकों ने द्रव्य के रूप में विशाल साधन संचित कर लिये। प्रत्येक प्रमुख पूंजीवादी देश में तीन, चार, या पाँच बड़ी-बड़ी बैंकें वहाँ की सम्पूर्ण बैंकिंग व्यवस्था पर हावी हो गयीं। दूसरी बैंकें इन विशाल बैंकों के पूर्णतया अधीन हो गयी। बैंको में जो

विशाल पूंजी इकट्ठा हुई उसे उद्योग-धन्धों में लगा दिया गया। औद्योगिक कारोबारों की सह-स्वामिनी—बैंकें इसी तरह बनीं। फिर इन औद्योगिक कारोबारों में उनका दखल हो गया।

बड़ी-बड़ी बैंकों का उद्योग-धन्धों के इजारेदार संघों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध कायम हो गया। बड़ी-बड़ी बैंकों और औद्योगिक इजारेदारियों दोनों के मालिक आमतौर से वही धन्नासेठ होते हैं। इस प्रकार, बैंक पूंजी और औद्योगिक पूंजी मिल जाती हैं और उनके मेल से वित्त पूंजी क़ायम हो जाती है। इसीलिए साम्राज्यवाद को वित्त पूंजी का युग भी कहा जाता है।

प्रत्येक पूंजीवादी देश में उसके सम्पूर्ण आर्थिक जीवन के महत्वपूर्ण स्थानों पर मुट्ठीभर धनाढ्य औद्योगिक इजारेदारों और बैंकरों का कब्ज़ा होता है। पूंजी की विशाल धन-राशियां उनके कब्जे में होती हैं और देश के सबसे बड़े औद्योगिक निगमों तथा बैंकों पर भी उन्हीं का आधिपत्य होता है। दसियों लाख मजदूरों की मेहनत-मशक्कत से जो विशाल मुनाफ़े हासिल किये जाते हैं वे उनकी थाह-हीन तिजोरियों के अन्दर पहुंच जाते हैं। फिर जिनका शासन आर्थिक जीवन पर होता है, वही सारे देश पर हुकूमत करते हैं। किसी भी पूंजीवादी देश के भाग्य का फ़ैसला थोड़े-से सबसे बड़े वित्तीय तथा औद्योगिक इजारेदार, उनके सर्वशक्तिशाली वित्तीय अल्पगुट (oligarchy) ही करते हैं (यूनानी शब्द ओलीगार्की—oligarchy का अर्थ होता है थोड़े से लोगों का शासन)।

देश की अधिकांश सम्पदा मुट्ठीभर धन्नासेठों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। प्रत्येक पूंजीवादी देश में—उसकी राजनीतिक व्यवस्था तथा उसका विधान, आदि चाहे जिस प्रकार के हों—सबसे बड़े

पूंजीपतियों के एक छोटे-से गिरोह के हाथ में सचमुच जबर्दस्त सत्ता होती है।

वर्तमान पूंजीवाद क्या "जनता का" पूंजीवाद बनता जा रहा है ?

पूंजीवादी समाज में आमतौर से कहा जाता है कि व्यापार को बढ़ाने का मुख्य साधन विज्ञापन होता है। पूंजीवादी देशों के राजनीतिज्ञों तथा "जीवन के पूंजीवादी तरीके" के प्रचारकों को एक विशेष प्रकार के मालों को "बेचना" पड़ता है। इन मालों में सर्वप्रमुख स्वयम् पूंजीवादी व्यवस्था है—जिसे वे दूसरों पर लादना चाहते हैं। इसलिए पूंजीवाद की तारीफें तथा प्रचार करने के लिए वे व्यावसायिक विज्ञापनों की सभी चालों का इस्तेमाल करते हैं।

वे कहते हैं कि आधुनिक पूंजीवाद "जनता का", "जनतांत्रिक" पूंजीवाद है। वे उसे "समृद्धशाली समाज" तथा "लोक कल्याणकारी राज्य" के रूप में चित्रित करते हैं। किन्तु विज्ञापनबाज़ी की ये तमाम चालें वास्तविकता से साक्षात्कार होते ही बेकार हो जाती हैं।

अमरीका में पूंजीवाद का विकास असाधारण तौर से अनुकूल आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितियों में हुआ था। उस देश ने रहन-सहन का दुनिया में सबसे ऊँचा स्तर हासिल कर लिया है। किन्तु अमरीका के रहन-सहन के मान के औसत आंकड़ों के पीछे कितने भयंकर वैषम्य छिपे हैं! वहाँ के लोगों के रहन-सहन के स्तर में जो जबर्दस्त विषमताएँ पायी जाती हैं उनके पीछे मानवीय कष्टों की कैसी करुण कहानियाँ छिपी हैं!

१९६४ के प्रारम्भिक दिनो मे, अमरीकी काग्रेस के नाम भेजे गये अपने एक सन्देश मे प्रेसीडेन्ट जौन्सन को यह बात मानने के लिए मजबूर होना पड़ा था कि अमरीका के कम से कम २० प्रतिशत परिवार ऐसे है जिनकी आमदनियाँ इतनी कम हैं कि उनकी न्यूनतम आवश्यकताओं की भी पूर्ति नही हो सकती। अपने उस संदेश में प्रेसीडेन्ट जौन्सन ने कहा था कि अमरीका मे फैली गरीबी वहाँ की एक राष्ट्रीय समस्या है। उन्होने कहा था कि ३ करोड ३० लाख से लेकर ३ करोड ५० लाख तक अमरीकी ऐसे है जो बिना किसी आशा के जीवन बिता रहे हैं; साधारण मानवीय मर्यादा को कायम रखने के लिए जो न्यूनतम चीजें आवश्यक होती है वे भी उन्हें नही प्राप्त है। विशेप-रूप से कष्टप्रद जीवन वहाँ की नीग्रो आबादी का है। वास्तव मे, नीग्रो लोगों को मताधिकार मे वंचित कर दिया गया है और उनके खिलाफ भेद-भाव बढता जा रहा है। नीग्रो लोगो को अधिक कुशल व्यवसायो के अन्दर घुसने नही दिया जाता, उनमे से अधिकाश को गन्दी बस्तियों (Slums) में रहने के लिए मजबूर किया जाता है; एक ही काम के लिए सफ़ेद चमडी वाले मजदूरो की अपेक्षा उन्हे बहुत कम मजदूरी मिलती है।

अमरीका के देहातो मे अनेक वर्षो से स्तरीकरण (stratification) की एक प्रक्रिया चल रही है। छोटे किसान तबाह होते जा रहे हैं और उनकी जमीनो पर बडे-बडे पूँजीवादी फार्मों का क़ब्ज़ा होता जा रहा है। १९४० मे अमरीका मे ६१ लाख फार्म थे; १९६० तक घटकर उनकी सख्या ४५ लाख रह गयी थी। १९५२ और १९५९ के दरम्यान अमरीका के किसानों की आमदनी लगभग एक-तिहाई घट गयी।

पूँजीवाद के हिमायती प्रचार कर रहे है कि लोगो की "आमदनियाँ

बराबर होती जा रही है।" आमदनियाँ किस तरह "बराबर हुई है" इसे स्वयम् अमरीकी अखबारो की रिपोर्टो से जाना जा सकता है। ये अखबार बतलाते है कि एक तरफ तो दसियो लाख परिवार निकृष्ट दरिद्रता तया असह्य कष्टो का जीवन बिता रहे है; और, दूसरी तरफ, थोड़े से वे लखपती-करोडपति धन्नासेठ है जिनकी ऐशो-इशरत की कोई सीमा नही है। उदाहरण के लिए, गहनो की दूकानों में केवल कान के जो बुन्दे रखे दिखाई देते है उनकी क़ीमत अधिकांश मजदूर परिवारों की सालाना आमदनी से भी अधिक होती है। अमरीका के धन्नासेठ अक्सर जितना रुपया एक कुत्ते पर खर्च करते हैं वह एक मजदूर की सम्पूर्ण आमदनी से भी अधिक होता है।

पूंजीवादी विश्व आर्थिक व्यवस्था का क्या आधार है ?

वित्त पूंजी ने सारी पूँजीवादी दुनिया को अपने जाल मे फँसा लिया है। मुनाफो की तलाश मे इजारेदारियाँ विदेशों, प्रधानतया आर्थिक रूप से पिछड़े उन देशों मे पूँजी का निर्यात कर रही है जिनमे सस्ते कच्चे मालों तथा अत्यन्त सस्ती जनशक्ति के प्रचुर साधन सुलभ है। इजारेदार इन देशो के राष्ट्रीय साधनों को मिट्टी के मोल खरीद लेते है और फिर खुद अपने कारोबार खड़े कर लेते है। पराधीन तथा उत्पीड़ित देशों की जनता को इजारेदारियाँ इसी प्रकार निर्ममता से लूटती हैं। जिन देशों मे पूँजी निर्यात की जाती है उन्हें मुट्ठी भर साम्राजी इजारेदारियो को विशाल धनराशियाँ शुल्क के रूप मे देनी पड़ती हैं।

पूँजीपति न केवल स्वयम् अपने देशों के घरेलू बाजारों पर हावी रहते हैं, बल्कि विभिन्न देशों की इजारेदारियाँ आपस में समझौते करके

सम्पूर्ण पूंजीवादी दुनिया के बाजारों को भी आपस मे बाँट-चूंट लेती है। पूंजीपतियों के अन्तर्राष्ट्रीय संघो का, अन्तर्राष्ट्रीय इजारेदारियों का प्रादुर्भाव इसी तरह होता है। सर्वाधिक महत्व के खनिज-पदार्थो को *निकालने, मुख्य मालों को बाजारो मे बेचने, तथा व्यावसायिक जहाज़*-रानी के लिए चन्द पूंजीवादी इजारेदारियो ने पूरी दुनिया को आपस में बाट लिया है।

पूंजीवाद के हिमायती "लोगों को सभ्य बनाने के" उसके "लक्ष्य" की बहुत बातें करते है। वे फर्माते है कि पहले के पिछड़े हुए देशों को पूंजीवाद ने प्रगति-मार्ग पर अग्रसर कर दिया है। इससे बडा झूठ नही हो सकता, क्योकि वास्तविकता यह है कि सारी दुनिया में पूंजीवाद के *फैल जाने की वजह से मानव-जाति के विशाल बहुमत को औद्योगिक* रूप से विकसित थोडे से देशों की इजारेदार पूंजी ने अपना गुलाम बना लिया है। पूंजीवाद की विश्व-व्यापी आर्थिक व्यवस्था आधिपत्य और अधीनता के सम्बन्धों पर, विशाल जनता के उत्पीड़न और शोषण पर कायम है।

कमजोर देशों और कौमो को गुलाम बनाकर विशाल साम्राज्यों का निर्माण करने की कोशिशें तथा औपनिवेशिक नीति का अस्तित्व पहले *भी था— न सिर्फ पूंजीवाद की एकाधिकारी अवस्था से पहले*, बल्कि पूंजीवाद के जन्म से भी पहले। अंग्रेजो ने १८वी शताब्दी के मध्य में ही भारत को— उस भारत को गुलाम बना लिया था जिसके प्राकृतिक साधन इतने समृद्ध है और जिसकी जनसंख्या स्वयम् ब्रिटेन की जनसख्या से कई गुना अधिक है! साम्राजी युग के शुरू होते-होते, इंगलैण्ड के अलावा, फ्रान्स, हॉलैण्ड, स्पेन और पुर्तगाल ने भी विशाल उपनिवेशों पर कब्जा कर लिया था। १९वीं शताब्दी के मध्य मे अमरीका ने अपने पड़ौसी देश मेक्सिको के विशाल क्षेत्रों पर कब्जा कर

लिया था। बाद के वर्षों मे उसने दक्षिण अमरीका के और भी कई देशो पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया।

२०वी शताब्दी के शुरू होते-होते प्रमुख पूंजीवादी शक्तियों ने दुनिया के समस्त भागो के "खाली" पडे प्रदेशो पर कब्जा कर लिया था और उन्हे अपने उपनिवेशो मे बदल दिया था। फलस्वरूप, उपनिवेशों, अर्द्ध-उपनिवेशो तथा पराधीन देशों के एक अरब से अधिक निवासी, अर्थात्, दुनिया की लगभग आधी आबादी, साम्राजी ताकतों के एक छोटे-से गिरोह की दासता की बेडियों मे बँध गयी थी। इस भांति, लगभग पूरी दुनिया ही साम्राजी ताकतो के बीच बँट गयी थी।

संसार के क्षेत्रीय विभाजन के फलस्वरूप, लगभग सारा अफ्रीका तथा एशिया और दक्षिण अमरीका के काफी बड़े भाग थोडे से साम्राजी राज्यों के उपनिवेश और अर्ध-उपनिवेश बन गये थे। दुनिया दो हिस्सो मे बँट गयी थी: एक तरफ उन मुख्य औद्योगिक देशो का शिविर था जिनके पास उपनिवेश थे और जो उनका खून चूसते थे, और, दूसरी तरफ था उन उपनिवेशो और अर्ध-उपनिवेशों का शिविर जिन्हे साम्राज्यवादियो ने अपना गुलाम बना लिया था।

ससार का विभाजन पूरा हो जाने के बाद, साम्राजी ताकतो मे उसके पुनर्विभाजन के लिए यादवी संघर्ष छिड गया। इस संघर्ष के गर्भ से दो विनाशकारी विश्वयुद्ध पैदा हो चुके हैं। १९१४–१९१८ का विश्वयुद्ध अपनी तरह का पहला युद्ध था। नये ढंग से दुनिया का पुनर्विभाजन करने की ख्वाहिश ने फिर द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म दिया। इस युद्ध की शुरुआत फासिस्ट आक्रमणकारियो ने की थी। इन फासिस्ट आक्रमणकारियों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रिया की शक्तियों ने ही पाला-पोसा और बढ़ावा दिया था।

साम्राज्यवाद की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं ?

अब हम बता सकते है कि पूंजीवाद की इजारेदारी अवस्था पहले की, यानी इजारेदारी मे पूर्व की अवस्था से किस तरह भिन्न है। साम्राज्यवाद की निम्न मुख्य आर्थिक विशेषताएँ है :

(१) उसके अन्तर्गत उत्पादन और पूंजी का सकेन्द्रण (concentration) इस हद तक बढ गया है कि उसकी वजह से इजारेदारियाँ पैदा हो गयी है । आर्थिक जीवन मे ये इजारेदारियाँ अब निर्णायक भूमिका अदा करती है।

(२) इजारेदार बैंक पूंजी इजारेदार औद्योगिक पूंजी से मिल गयी है और उनके इस मेल से वित्त पूंजी का, वित्तीय अल्पतंत्र का निर्माण हो गया है।

(३) मालो के निर्यात के अलावा पूंजी का निर्यात होने लगा है और इसने विशेषरूप से जबर्दस्त महत्व प्राप्त कर लिया है।

(४) पूंजीपतियों के अन्तर्राष्ट्रीय इजारेदार सघ कायम हो गये हैं और उन्होने दुनिया को आपस मे बाट लिया है।

(५) सबसे बडी पूंजीवादी ताकतो ने दुनिया को आपस मे बाँटकर उसके क्षेत्रीय विभाजन की क्रिया को पूरा कर लिया है।

साम्राज्यवाद पूंजीवाद की एक विशेष अवस्था है। इस अवस्था की तीन खास विशेषताएँ हैं। सबसे पहले, साम्राज्यवाद एकाधिकारी पूंजीवाद है; दूसरे, वह पराजीवी *अथवा पतनशील पूंजीवाद* है, तीसरे, वह मरणासन्न पूंजीवाद है। साम्राज्यवाद समाजवादी क्रान्ति की पूर्व-वेला है। पूंजीवाद के इतिहास मे साम्राज्यवाद का यही स्थान है। आम इतिहास मे भी उसका यही स्थान है।

साम्राज्यवाद का आर्थिक सार यह है कि उसके अन्तर्गत मुक्त प्रतियोगिता के स्थान पर इजारेदारियों का आधिपत्य कायम हो जाता है। समस्त पूजीवादी देशों पर इजारेदारियो का एकछत्र राज्य हो जाता है। उत्पादन, व्यापार, तथा वित्त सम्बन्धी मामलो मे— सभी जगह, उनकी सर्वशक्तिशालिता साफ-साफ दिखलाई देने लगती है। पूंजीवादी समाज के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन का कोई भी ऐसा कोना शेष नही रह जाता जहाँ एकाधिकारी अष्टबाहुओं का क़ब्ज़ा नही हो जाता !

साम्राज्यवाद पराजीवी (parasitic) अथवा पतनशील (decaying) पूंजीवाद है। किरायाजीवी लोगो (rentiers) का अर्थात् ऐसे लोगो का वर्ग वेहद वढ गया है जो महज़ ऋण-पत्रों (securities) से होने वाली आय के आधार पर पूर्णतया निठल्ले जीवन व्यतीत करते हैं। इन लोगों के पास शेयर्स (हिस्से), सरकारी बौन्ड, आदि होते है और ये लोग इन्ही से प्राप्त होने वाले मुनाफो के कूपन काट-काटकर ज़िन्दा रहते हैं !

उत्पादन की प्रक्रिया से पूंजीपति वर्ग के विशाल बहुमत का सम्पर्क एकदम समाप्त हो जाता है। उनके कारोबारों का प्रवन्ध तक किराये पर रखे गये प्राविधिक कर्मी करने लगते हैं।

किरायाजीवी केवल वही बहुत से लोग नही होते जो निठल्ले रहते है, बल्कि पूरे के पूरे देश भी किरायाजीवी बन जाते हैं। ये देश किरायाजीवी राज्यो का रूप ले लेते हैं। विदेशो में अपने धन का काफी बड़ा भाग लगाकर, वे तमाम दुनिया के आर्थिक शोषण के केन्द्र बन जाते हैं। पूंजी के निर्यात के माध्यम से वे विदेशों से ज़बर्दस्त मुनाफे कमाते है।

साम्राज्यवाद मरणासन्न पूंजीवाद है। किन्तु इसका अर्थ यह नही

होता कि वह अपने-आप समाप्त हो जायेगा। पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण होना ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य है। पर ऐसा केवल तभी होता है जबकि जनता— अर्थात् मजदूर वर्ग तथा अन्य श्रमजीवी वर्गों का बहुमत यह समझ लेता है कि पूंजीवाद की (समाज को आगे ले जाने की— अनु०) सारी सम्भावनाएं चुक गयी है— और समाज के आगे विकास के मार्ग में वह रोड़ा बनगया है। जहां तक उत्पादक शक्तियों के विकास की बात है, वस्तुगत रूप से वह अवस्था पूंजीवाद ने काफी पहले ही प्राप्त कर ली थी जिसने उत्पादन, वितरण तथा उपभोग के दूसरे— अर्थात् समाजवादी स्वरूपों की ओर संक्रमण करना आवश्यक बना दिया है। विश्व की सम्पूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था इस तरह के संक्रमण के लिए परिपक्व हो चुकी है। अधिकाधिक देश गैर-पूंजीवादी, समाजवादी मार्ग को अपनाते जा रहे हैं। पूरी मानव जाति अब उस युग में पहुँच गयी है जो पूंजीवाद से एक अधिक ऊँची सामाजिक व्यवस्था की ओर संक्रमण का— कम्युनिज्म की ओर संक्रमण का युग है।

हमारा काल उत्पादक शक्तियों की विराट प्रगति का काल है, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की अपूर्व प्रगति का काल है। इसके बावजूद, करोड़ों लोगों की गरीबी और मुफलिसी का यदि वह अब तक भी अन्त नहीं कर सका है, यदि अब तक भी सम्पूर्ण मानव-जाति के लिए भौतिक तथा आत्मिक समृद्धि के बाहुल्य की सृष्टि वह नहीं कर सका है, तो इसका कारण केवल पूंजीवाद है।

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के सैनिकीकरण का क्या परिणाम होता है ?

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से साम्राज्यवादी राज्यों की अर्थ-व्यवस्था

का जबर्दस्त सैनिकीकरण हो गया है। आज के पूंजीवाद के पराजीवी तथा पतनोन्मुख स्वरूप का यह अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण है। मुख्य पूंजीवादी देशों मे उनके बजट की पूरी आय के आधे से अधिक को, और कभी-कभी तो उसके दो-तिहाई भाग तक को हथियारों की दौड़ खा जाती है। उनकी कुल राष्ट्रीय आय का एक चौथाई भाग तक हथियारो की इसी दौड़ की बलि-वेदी पर चढ़ जाता है। इसकी वजह से इन देशों मे टैक्सो का बोझ बेहद बढ़ गया है, मुद्रा-स्फीति ने अर्थ-व्यवस्था को चौपट कर दिया है और रहन-सहन के खर्चे मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी है।

इस सब के फलस्वरूप, मेहनतकश जनता की गरीबी और उत्पीडन मे और भी अधिक वृद्धि हो जाती है, और जन सख्या के बहुमत के कष्टों का घड़ा और भी भर जाता है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के फौजीकरण के फलस्वरूप विशाल भौतिक साधन तथा लाखों-करोड़ो लोगो का जीवित श्रम अनुत्पादक कामों मे लगकर बर्बाद हो जाता है।

हथियारों के निर्माण मे मनुष्य की किसी भौतिक अथवा आत्मिक आवश्यकता की पूर्ति नही होती; इसलिए उनको बनाने का मतलब राष्ट्रीय आय के काफी बड़े भाग को कुएँ मे डाल देना होता है। अर्थ-व्यवस्था का फ़ौजीकरण सर्वथा अमानुषिक है। यह केवल इसीलिए अमानुषिक नही है कि इसकी वजह से एक भयंकर आण्विक विपत्ति का खतरा पैदा हो जाता है, बल्कि इसलिए भी अमानुषिक है कि एक ऐसे समय जबकि स्वयम् विकसित पूंजीवादी देशो मे भी करोड़ो लोग अभावो और गरीबी का जीवन बिता रहे है तथा नव-स्वतत्रता प्राप्त विकासोन्मुख राष्ट्र अपने प्राविधिक तथा आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने तथा अपने देश-वासियों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने

के लिए साधनों के वास्ते तरस रहे है— मानवीय श्रम तथा भौतिक सम्पदा को निरर्थक घातक हथियारों, मानव-जाति के लिए खतरनाक आयुधों के निर्माण में व्यय करना सहजबुद्धि के दृष्टिकोण से भी सर्वथा अनुचित और अक्षम्य है।

हथियारो की दौड़ तथा युद्धोत्पादन के असाधारण विस्तार का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि अर्थ-व्यवस्था की उन शान्तिपूर्ण शाखाओ मे, जो उपभोग्य मालो का निर्माण करती है, गतिरोध पैदा हो जाता है और कभी-कभी तो उनका उत्पादन एकदम गिर जाता है। इसकी वजह से पूँजीवादी उत्पादन के असमान विकास की मात्रा तथा उसकी विपमता और अराजकता और भी बढ जाती है।

सरकारी फ़ौजी ठेके असाधारण रूप से लाभदायी होते है। इसलिए पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का फ़ौजीकरण वृहत् इजारेदारियो के लिए अभूतपूर्व मुनाफ़ों का साधन बन जाता है। हथियारों की दौड कुछ खास उद्योगो की पैदावार के लिए एक बनावटी माँग पैदा कर देती है : इससे पूँजीवादी देशो की आर्थिक कठिनाइयाँ और भी अधिक बढ़ जाती है। अर्थ-व्यवस्था का सैनिकीकरण पूँजीवाद को सकटों तथा मंदियों से नजात नही दिला सकता।

हथियारों की दौड़ में जो देश इस वक्त दुनिया का नेतृत्व कर रहा है, वह— अर्थात् संयुक्त राष्ट्र अमरीका स्वयम्—पूँजीवाद के भयंकर पतन का एक जबर्दस्त चित्र प्रस्तुत करता है। उद्योग-धन्धों की उसकी न जाने कितनी क्षमता बहुत दिनो से बेकार पडी है, और अति-उत्पादन के आर्थिक संकट उसमें और भी जल्दी-जल्दी आने लगे हैं। उत्पादक शक्तियों मे जो जबर्दस्त वृद्धि हो गयी है उसका उपयोग करने में आज का पूँजीवाद असमर्थ है —इस चीज़ को अमरीका का उदाहरण और भी सजीव रूप से सिद्ध कर देता है।

अमरीका की जनसंख्या का काफी बड़ा भाग जीवन के लिए आवश्यक साधारणतम चीजों तक के लिए तरस रहा है; किन्तु, इसके बावजूद, वहाँ के करोड़ों मेहनतकश आज पूर्ण अथवा आंशिक बेकारी का जीवन बिताने के लिए मजबूर है और देश की विराट् उत्पादक शक्तियाँ निर्जीव पड़ी हुई है।

उपनिवेशवाद क्या है ?

एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण अमरीका के करोड़ों लोगों के कोश मे उपनिवेशवाद से अधिक घृणित शब्द दूसरा नही है। उपनिवेशवाद उस व्यवस्था का नाम है जिसे साम्राज्यवाद ने उपनिवेशों तथा पराधीन देशों में कायम किया था।

उपनिवेशवाद ने अनेक ऐसे देशों को भी— जिनकी स्वयं अपनी प्राचीन सस्कृति है, आर्थिक पिछड़ेपन तथा भौतिक एवं आत्मिक दरिद्रता के गढे में ढकेल दिया है। भारत की महान् जनता दो शताब्दियों तक ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के जुए के नीचे कराहती रही थी। महान चीनी जनता के लिए भी अर्द्ध-औपनिवेशिक पराधीनता का लम्बा काल एक भयानक अभिशाप था। पूर्वी अरब, अफ्रीका, दक्षिण अमरीका तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशो की जनता को भी पाशविक औपनिवेशिक शोषण के जुए के नीचे अनन्त यातनाएँ सहनी पड़ी हैं। *इस औपनिवेशिक शोषण की वजह से एक लम्बे काल तक उनका* विकास रुका रहा है। ऐसे सर्वाधिक सम्पन्न देशों मे भी उपनिवेशवाद ने भुखमरी के जहरीले बीज बोये है जिनकी प्राकृतिक धन-सम्पदा अक्षय तथा जिनकी आबादी अत्यन्त उद्यमशील है।

पूंजीवादी देशों ने उपनिवेशों पर किस प्रकार क़ब्ज़ा किया था इसका एक पूंजीवादी राजनीतिज्ञ ने संक्षेप में निम्न विवरण दिया है :

"पहले मिशनरी आये, फिर सौदागर, और, अन्त में, तोपों से लैस जंगी जहाज़" !

और यह बात वास्तव में सच है कि मिशनरी ही आमतौर से अहंमन्यतावादी पूंजीवादी सभ्यता का पहला चर होता था। वह देशी लोगों की "आत्माओं" की तथाकथित "रक्षा करने" के लिए आता था। फिर उसके पीछे-पीछे तुरन्त लालची सौदागरों का एक गिरोह आ धमकता था। अँगूठियों, छल्लों जैसी किन्हीं सस्ती क्षुद्र वस्तुओं के बदले में धोखाधड़ी तथा खुली लूट-पाट के द्वारा वे जनता की बहुमूल्य चीज़ों (बेशकीमती धातुओं, हाथी दांत की वस्तुओं, फर की वस्तुओं, सूती कपड़ों, काफी, आदि) को हासिल कर लेते थे। थोड़े समय के बाद फौजें भी आ पहुँची और तलवार व खूँरेजी के ज़रिए उन्होंने देश को एक नये शासक का, पूंजी का गुलाम बना लिया। अधिकृत प्रदेशों के देशी निवासियों के सिर पर असह्य टैक्सों के बोझ लाद दिये गये। जहाजी मल्लाहों, सैनिकों, दुस्साहिक उठाईगीरों और धन-दौलत के लिए सब कुछ करने को तैयार लोगों के टिड्डी दलों ने उपनिवेशों में पहुँचना शुरू कर दिया। ये लोग अपने साथ यौन रोग (venereal deseases) तथा अन्य व्याधियाँ लाये। ये रोग तेजी से फैल गये। जो एकमात्र औद्योगिक माल बहुतायत से उपनिवेशों में पहुँचाया गया वह थी शराब। बीमारियों और शराबखोरी के कारण पूरी की पूरी क़ौमें पतित तथा तबाह होकर तेज़ी से मिट गयीं। यही वे वरदान हैं जो उपनिवेशों की जनता के लिए लेकर पूंजीवाद आया था।

साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था की सृष्टि किस तरह हुई थी ?

उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें तथा आठवें दशक में योरोपीय देशों

के जो औपनिवेशिक प्रदेश योरप के बाहर थे वे अपेक्षाकृत छोटे थे। १८७६ तक अफ्रीका के केवल दसवें भाग को ही योरोपीय देशों का उपनिवेश बनाया जा सका था। एशियाई महाद्वीप तथा पुरुद्वीपावली (पोलीनेशिया) के लगभग आधे भाग पर पूंजीवादी राज्यों का तब तक अधिकार नहीं हुआ था।

संसार का मानचित्र मूलतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश मे बदला था। सबसे पुरानी उपनिवेशवादी शक्ति, ब्रिटेन थी; उसका अनुकरण करते हुए फिर सभी विकसित पूंजीवादी राज्यों ने दूसरे देशों के क्षेत्रों पर कब्जा करना शुरू कर दिया। १९वी शताब्दी के अन्त तक फ्रान्स भी एक बड़ी उपनिवेशवादी शक्ति बन गया। उसके कब्जे मे ३७ लाख वर्गमील के पराये क्षेत्र आ गये। जर्मनी ने १ करोड़ ४७ लाख-आबादी के १० लाख वर्गमील के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था, और बेल्जियम ने ३ करोड़ आबादी के ९ लाख वर्गमील क्षेत्र पर। प्रशान्त महासागर के एक बड़े तथा सैनिक रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षेत्र, अर्थात् फिलीपाइन द्वीपसमूहों पर अमरीका ने कब्जा कर लिया। उसने क्यूबा और प्योरटोरिको पर भी कब्जा कर लिया और मध्य तथा दक्षिण अमरीका के कई देशों पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

१८७६ और १९१४ के बीच, तथाकथित महान् शक्तियों ने लगभग २ करोड़ ५० लाख वर्ग किलोमीटर के प्रदेशों पर, अर्थात् योरप के आकार से दोगुने बड़े इलाके पर अधिकार जमा लिया था। कई अन्य देशों को उन्होने अर्ध-औपनिवेशिक दासता की जंजीरो मे जकड़ लिया था। इस प्रकार, साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था की स्थापना हो गयी थी। मुट्ठीभर साम्राजी ताकतों द्वारा किये जाने वाले उपनिवेशों के इस शोषण का मतलब दरअसल यह था कि तथा-कथित सभ्य दुनिया गुलाम देशों के करोड़ों लोगों के शरीर पर उनका

खून चूसने के लिए एक जोंक की तरह चिपक गयी थी !

औपनिवेशिक शक्तियाँ ऐसे देशों की सर्वेसर्वा बन गयीं जिनकी जन संख्या स्वयम् उनके देशों की जन संख्या से कई गुना बड़ी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले ब्रिटेन की आबादी ४ करोड़ ७० लाख थी और उसके उपनिवेशों की ४८ करोड़—अर्थात् उसकी अपनी आबादी से १० गुना अधिक ! इसी तरह, फ्रान्स की अपनी आबादी ४ करोड़ २० लाख थी और उसके उपनिवेशों की ७ करोड़; हॉलैण्ड की ९० लाख और उसके उपनिवेशों की ६ करोड़ ९७ लाख तथा बेल्जियम की ८० लाख और उसके उपनिवेशों की १ करोड़ ४० लाख !!

एशिया तथा प्रशान्त सागर के क्षेत्रों, और अफ्रीका तथा दक्षिण अमरीका के क्षेत्रों के औपनिवेशिक और पराधीन देशों के विशाल जन समुदायों को साम्राज्यवाद ने दासता की शृंखलाओं में जकड़ लिया था और उनका निर्मम शोषण व क्रूर उत्पीड़न कर रहा था। मानव-जाति के विशाल बहुमत पर साम्राजी ताक़तों का आधिपत्य क़ायम हो गया था।

औपनिवेशिक शोषण की खास विशेषताएँ क्या हैं ?

पूँजीवाद के आर्थिक नियमों के फलस्वरूप, धन-सम्पदा क्रमशः पूँजीपतियों के एक छोटे-से गुट के हाथों में इकट्ठा हो गयी और आम जनता के लिए अभावों तथा अरक्षा की और भी बदतर स्थिति पैदा हो गयी। इन्हीं नियमों की वजह से योरप और उत्तरी अमरीका के मुट्ठीभर इजारेदारों तथा उन देशों के करोड़ों लोगों के बीच की

खाई भी और गहरी हो गयी जिन्हें इन लोगों ने अपना गुलाम बना लिया था।

पूंजीवाद के हिमायती हमेशा उन तथाकथित वरदानों का गुल-गपाड़ा मचाते रहते है जो उच्च रूप से विकसित पूंजीवादी देशों की कृपा से पराधीन देशों के निवासियों को प्राप्त हुए है। वे यह जतलाने की चेष्टा करते है कि साम्राजी देशों तथा उपनिवेशों का सम्बन्ध एक "मैत्रीपूर्ण' सम्बन्ध है। उनकी "मित्रता" वास्तव में उसी तरह की मित्रता है जैसी घुड़सवार और घोड़े के बीच होती है। गुलाम देशों की जनता को उपनिवेशवादियों की कृपा से जो "वरदान" प्राप्त होते हैं वे उतने ही काल्पनिक हैं जितनी काल्पनिक वे नेकियाँ है जो पूंजीपति मजदूरों के साथ करते हैं।

साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था अभिन्न रूप से राष्ट्रीय उत्पीड़न तथा नस्ली भेद-भाव के साथ जुड़ी हुई है। साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था के अन्तर्गत ये दोनों चीजें असामान्य रूप से उग्र हो जाती है। उपनिवेशों तथा अर्द्ध-उपनिवेशों में साम्राजियों ने जो शासन-व्यवस्था कायम की है उसमे उन्होंने अपने देश के अफ़सरों, फ़ौजियों, सौदागरों तथा पैसे की तलाश में सबकुछ कर गुज़रने को तैयार उठाईगीरों को "ऊँची नस्ल' वालों के अधिकार दे रखे हैं। उन्होंने उन्हें देशी जनता के साथ मनमानी-हरजानी करने की पूरी छूट दे रखी है। वास्तव में, अपनी इजारेदारी अवस्था में पहुँचकर पूंजीवाद राष्ट्रों का सबसे बड़ा उत्पीड़क बन गया है।

विदेशी इजारेदारियों द्वारा उपनिवेशों का शोषण किये जाने का मतलब सबसे पहले यह होता है कि उनकी अर्थ-व्यवस्था से वे उसका जीवन-दायी खून चूस लेती है। उनके मूल्यवान कच्चे मालों, खाद्यान्नों,

उनके निवासियों के सस्ते श्रम तथा उनकी पूर्व-संचित धन-सम्पदा—सबको वे अपने कब्जे मे कर लेती है। करोड़ो लोगों के कठिन तथा जबर्दस्ती कराये गये श्रम द्वारा सृजित अधिकांश अतिरिक्त मूल्य को नाना तरीको से गुलाम देशो से छीन लिया जाता है। इस अतिरिक्त मूल्य का एक छोटा भाग स्थानीय शासक वर्गो के अनुत्पादक उपभोग मे चला जाता है। स्थानीय शासक वर्गो के ये लोग वही होते है जिन्हे औपनिवेशिक जनता की लूट-खसोट की बुनियाद पर घूस देकर साम्राजी अपने साथ मिला लेते हैं। इजारेदारियों द्वारा व्यवस्थित रूप से की जाने वाली उपनिवेशो की यह लूट-खसोट सम्बन्धित देशों को उनके उन साधनो से वचित कर देती है जिनकी उनके आर्थिक विकास के लिए आवश्यकता होती है।

उपनिवेशो, पराधीन देशो तथा उन देशो की भी जनता की लूट-पाट के आधार पर जो हाल ही मे आज़ाद हुए हैं, इजारेदारियाँ उनसे जबर्दस्त शुल्क या जजिया वसूल करती है। ये शुल्क वे विनियोजित पूँजी (Capital investments) तथा यातायात के जरिए तथा बीमे की व अन्य अपनी वित्तीय कार्रवाइयों के द्वारा मुनाफों के रूप में हासिल करती है। व्यापक रूप से असमान विनिमय चलता है: उपनिवेशों तथा नये राज्यो को इस बात के लिए मजबूर किया जाता है कि पूंजीवादी इजारेदारियो से चीजों को वे खूब बढ़ी-चढ़ी कीमतों पर खरीदें और अपना कच्चा माल तथा अपने खाद्यान्न अत्यन्त सस्ते दामों मे उन्हें वेचें। साम्राज्यवाद के युग में इजारेदारियों के लिए विशाल अतिरिक्त मुनाफे वटोरने के सिलसिले में लूट-खसोट के ये सभी साधन खूब काम मे लाये जाते है।

उपनिवेशो को आर्थिक रूप मे पिछड़ा बनाये रखना साम्राजियों के हित में होता है। उपनिवेशों के ऊपर अपनी सत्ता बनाये रखने

तथा उनके शोषण को तेज करने में वित्तीय पूंजी के लिए इससे और भी अधिक आसानी हो जाती है।

उपनिवेशवाद के क्या परिणाम होते हैं ?

आर्थिक विकास के निचले स्तर तथा क्रूर विदेशी शोषण ने मिल कर औपनिवेशिक देशों की जनता को दरिद्रता, भुखमरी तथा तबाही का जीवन बिताने के लिए मजबूर कर दिया है।

सयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा, प्रकाशित की गयी अंकगणनाओं के अनुसार, मानव-जाति के दो-तिहाई भाग की सालाना आमदनी फी व्यक्ति मुश्किल से ४१ डालर होती है। शासक साम्राजी देशों के यहाँ की प्रतिव्यक्ति आमदनी की तुलना में यह उसके दसवें से पन्द्रहवें भाग के बराबर होती है। करोड़ों लोग अत्यन्त गरीबी में जीवन-यापन कर रहे हैं। उनके लिए दवा-दारू की कोई व्यवस्था नही है। मानव-जाति के दो-तिहाई भाग के लिए ६,००० लोगो की आबादी पर बमुश्किल एक डाक्टर मुहैय्या होता है। इन लोगो की जिन्दगी की अवधि मुश्किल से ३० वर्ष होती है।

उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में करोड़ों लोग भुखमरी की अवस्था मे रहते हैं। उनके सर पर सदा मृत्यु मंडराया करती है। अफ्रीका की ५७ प्रतिशत देशी आबादी १५ वर्ष की अवस्था तक पहुँचने से पहले ही मर जाती है। ब्राजील, अर्जेन्टाइना, चिली तथा दक्षिण अमरीका के दूसरे देशों के लगभग ६ करोड लोग हमेशा भूखे रहते हैं। विशाल उपनिवेशों तथा पराधीन देशों में साम्राज्यवाद ने क्रूर शोषण तथा अमानुषिक उत्पीडन की व्यवस्था कायम कर दी है। केवल अतिरिक्त मुनाफे कमाने में उनकी दिलचस्पी होने के कारण,

उपनिवेशों तथा अर्द्ध-उपनिवेशों में इजारेदारियों ने प्रधानतया खनिज उद्योग के ही कारोबार क़ायम किये हैं। साथ ही साथ, उन उद्योगों के विकास को उन्होंने जोर-जबर्दस्ती के द्वारा रोक दिया है जिनका उन देशों की आर्थिक आजादी के लिए बहुत महत्व है। उपनिवेशों में कम मजदूरी पर प्रतिदिन १४-१४, १६-१६ घन्टे तक जबर्दस्ती मजदूरों से काम लिया जाता है। वहाँ के किसानों की दरिद्रता और तबाही वर्णनातीत है।

उपनिवेशवादियों के लम्बे कुशासन ने दुनिया की आबादी के अधिकांश को आर्थिक पिछड़ेपन और दरिद्रता के गर्त में ढकेल दिया है। दुनिया के गैर-समाजवादी भाग के देश आज दो दलों में बँटे हुए हैं। एक दल में इजारेदार पूँजी के औद्योगिक रूप से विकसित देश है : अमरीका, पश्चिम योरप के देश, जापान, कनाडा और आस्ट्रेलिया। इन देशों में दुनिया के गैर-समाजवादी भाग की आबादी का एक-तिहाई से कम भाग रहता है।

दूसरे दल में एशिया, अफ्रीका तथा दक्षिण अमरीका के नये स्वतन्त्र राज्य है। पूँजीवादी दुनिया की दो-तिहाई से अधिक आबादी इन्हीं देशों में रहती है।

पहले दल के देश दुनिया के गैर-समाजवादी भाग के सम्पूर्ण औद्योगिक उत्पादन का ९/१० से भी अधिक पैदा करते हैं। विकसित होते हुए देशों में उसके औद्योगिक उत्पादन का १/१० से भी कम पैदा होता है। यह उत्पादन भी लगभग पूरे का पूरा औद्योगिक कच्चे मालों तक—अर्थात् तेल, विभिन्न कच्ची धातुओं तथा खनिज पदार्थों तक ही सीमित है। ये उद्योग भी लगभग पूरेतौर से धनाढ्य देशों के इजारेदारों के ही कब्जे में होते है। उदाहरण के लिए, एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका में जितना तेल पैदा होता है उसके ४/५ से

अधिक भाग में अमरीकी और ब्रिटिश इजारेदारो का कब्ज़ा है।

इन चीज़ों की वजह से विकसित पूंजीवादी देशों की इजारेदारियों और उपनिवेशों तथा पराधीन देशों की करोड़ों जनता के आपसी अन्तर्विरोध वेहद बढ़ गये है।

उपनिवेशवाद का उन्मूलन कैसे किया जा रहा है ?

मानव-जाति के विशाल बहुमत को पूंजीवाद ने औपनिवेशिक बन्दीगृह की जिन भीमकाय दीवारों के अन्दर बन्द कर रखा है उनकी रचना कई शताब्दियों के दौरान हुई थी। किन्तु २०वी शताब्दी के मध्य मे, औपनिवेशिक दुनिया के अन्दर जो कौमें कैद थी वे उठ खडी हुई और अपनी आज़ादी तथा स्वतंत्रता के लिए उन्होंने उत्पीड़न के खिलाफ संकल्पपूर्ण सघर्ष का फरहरा फहरा दिया। आज हमारे युग मे जिस तेज गति से औपनिवेशिक गढ एक के बाद एक धराशायी होते जा रहे है थोड़े दिन पहले इसकी कल्पना तक करना कठिन था।

एक छोटे-से ऐतिहासिक काल के अन्दर ही, एशिया और अफ्रीका की औपनिवेशिक व्यवस्था के खण्डहरो पर बीसियों नये पूर्ण प्रभुसत्ता-शाली राज्य उठ खड़े हुए है। महान चीनी जनगण ने विदेशी दासता के जुए को उतार कर फेंक दिया है। भारत और इन्डोनेशिया जैसे विशाल राज्यो की जनता ने औपनिवेशिक दासता से मुक्ति प्राप्त कर ली है। अफ्रीका अब उपनिवेशवाद का गढ नही रह गया है; उसके विशाल भू-भाग पर कोड़ियो स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये है। क्यूबा मे क्रान्ति विजयी हुई। क्यूबा की इस विजय ने दक्षिण अमरीका के उन तमाम जनगण के सामने जो उत्तरी अमरीका की इजारेदारियो

के शोषण से नजात पाने के लिए छटपटा रहे हैं, एक शानदार आदर्श उपस्थित कर दिया है।

१९१९ में समस्त उपनिवेश, अर्द्ध-उपनिवेश तथा डोमीनियन दुनिया के ७७.२ प्रतिशत भू-भाग पर फैले हुए थे। उनमें दुनिया की ६९.२ प्रतिशत जनसंख्या रहती थी। किन्तु १९६२ के अन्त तक जिन भूतपूर्व औपनिवेशिक तथा अर्द्ध-औपनिवेशिक देशों ने आजादी हासिल कर ली थी उनका कुल क्षेत्र (समाजवादी राज्यों को छोड़ कर) दुनिया के भू-भाग के ५६.२ प्रतिशत के बराबर था। उनमें दुनिया की ४२.६ प्रतिशत जनसंख्या केन्द्रित थी। १९६२ के अन्त में, केवल ४ करोड़ ९० लाख लोग, अर्थात् मानवजाति के केवल १.५ प्रतिशत लोग औपनिवेशिक दासता की शृंखलाओं में जकड़े शेष रह गये थे।

अनेक देशों में वहाँ की गुलाम जनता के एक लम्बे और सतत संघर्ष के फलस्वरूप ही उपनिवेशवाद का अन्त किया जा सका है। इन देशों की संघर्षशील जनता को समाजवादी देशों तथा दुनिया की समस्त प्रगतिशील शक्तियों का समर्थन प्राप्त था। उपनिवेशों और पराधीन देशों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन ने जो जबर्दस्त सफलताएँ प्राप्त की हैं उनकी वजह से सारी दुनिया में साम्राज्यवाद की स्थिति कमज़ोर हो गयी है।

इतिहास का तकाजा है कि उपनिवेशवाद को उसके तमाम रूपों में पूर्णतया तथा अन्तिम रूप से समाप्त कर दिया जाय। राजनीतिक आजादी प्राप्त कर लेने और औपनिवेशिक जुए से मुक्त हो जाने के बाद नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशों के सामने अत्यन्त महत्वपूर्ण और जटिल जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं। उनके लिए आवश्यक हो जाता है कि उस भयंकर विरासत का जड़मूल से वे उन्मूलन कर दें जो दशकों, और कभी-कभी शताब्दियों तक का औपनिवेशिक उत्पीड़न उनके देश में

छोड गया है । अत्यधिक प्राविधिक और आर्थिक पिछड़ापन, उपनिवेशवादियो द्वारा कृत्रिम रूप से क़ायम रखे गये सामाजिक जीवन के दकियानूसी तौर-तरीके, श्रम की उत्पादनशीलता तथा राष्ट्रीय आय के निम्न स्तर, तथा जनता की घोर गरीबी, आदि, आदि— सब इसी औपनिवेशिक विरासत की अलामतें हैं ।

नव-उपनिवेशवाद क्यों खतरनाक है ?

साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था का अन्त होना ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य है । दुनिया मे ऐसी कोई शक्ति नही है जो विनाश से उसे बचा सके । किन्तु यह सोचना अनुचित होगा कि यह व्यवस्था मिटकर समाप्त हो गयी है ।

साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गयी है तथा उपनिवेशों की अधिकांश कौमों ने राजनीतिक स्वतत्रता प्राप्त कर ली है । इसके फलस्वरूप, आर्थिक रूप से कम विकसित देशों की परिस्थितियाँ बुनियादी तौर से बदल गयी है और इजारेदारियाँ उनमें अब पहले की तरह काम नही कर सकतीं । इसके बावजूद, साम्राजी देशो की इजारेदारियाँ, खास तौर से अमरीकी इजारेदारियाँ इन विकासोन्मुख देशों के शोषण से प्राप्त होने वाले भारी अतिरिक्त मुनाफ़ो को तिलाजलि देने के लिए क़तई तैयार नही है ।

"नव-उपनिवेशवाद" शब्द इसी नयी राजनीतिक परिस्थिति की उपज है । हाल के वर्षो में अपनी जड़ें इसने काफ़ी गहरी कर ली है । परन्तु, पुराने, अपने "क्लासिकल" रूप से नये रूपों मे होने वाला यह संक्रमण आधुनिक इजारेदारी पूंजीवाद की शक्ति का नही, बल्कि उसकी कमज़ोरी का परिचायक है । साम्राज्यवादी औपनिवेशिक

व्यवस्था के विघटन तथा टूट-फूट के काल में साम्राजी शक्तियाँ जिस औपनिवेशिक नीति का इस्तेमाल कर रही हैं नव-उपनिवेशवाद उसका सबसे विशिष्ट रूप है।

नव-उपनिवेशवाद आमतौर से लालच देने और डण्डा दिखाने की मिली-जुली नीति का इस्तेमाल करता है। अपने को मासूम भेड़ों के वेष मे प्रस्तुत करके साम्राजी भेड़िये नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशों के निवासियों से तरह-तरह के वादे करते है। वित्तीय पूँजी के खूँखार स्वार्थों पर निःस्वार्थ सहायता के पाखण्डी वादो और स्वतंत्रता तथा प्रगति के उदात्त विचारो के प्रति अपनी अविचलित निष्ठा के आश्वासनों का मुलम्मा चढाने की वे चेष्टा करते हैं। किन्तु नव-उपनिवेशवाद के तरीकों का इस्तेमाल करने लगने के कारण साम्राजियों ने अपनी पुरानी काल-सम्मत" (क्लासिकल) औपनिवेशिक नीति के तरीकों को, और खासतौर से पाशविक हिंसा का इस्तेमाल करने के तरीकों को तिलांजलि नही दे दी है। जहाँ भी सम्भव होता है अपने विरोधियों को सजा देने के लिए आज भी हमले सगठित करने, इन देशो के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप करने, तथा उन्हें तरह-तरह से छेड़ने और उकसाने की हरकतो से वे बाज़ नहीं आते।

विकासोन्मुख देशों में मौजूद अपने अड्डों से चिपके रहने की इजारेदार जी-तोड़ कोशिश कर रहे है। वहाँ की जनता की सच्ची आजादी का विरोध करते हुए, उनके रास्ते में वे कदम-कदम पर कांटे बिछा रहे है, और जिन देशो ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है उन्हे फिर अपने औपनिवेशिक जुए के नीचे लाने की कुचेष्टाएँ कर रहे हैं। इन नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देशों की प्रतिक्रियावादी, राष्ट्र-विरोधी शक्तियाँ, जो साम्राजियों के साथ सौदा करने के लिए हमेशा तैयार रहती है, उनकी इन साजिशों में राजनीतिक रूप से सहायता पहुँचाती हैं।

कम विकसित देशों का शोषण करने का मौका विदेशी इजारेदारियो को इसलिए मिल जाता है कि एक तरफ़ तो प्राविधिक और आर्थिक रूप से ये देश पिछड़े हुए है और, दूसरी तरफ, उनमें से अनेक के अन्दर विदेशी पूंजी के औद्योगिक, व्यापारिक तथा बैंकिग संस्थान अब भी मौजूद है। इसके अलावा, और भी दूसरे वित्तीय तथा आर्थिक रूपों में ये देश विदेशी इजारेदारियों पर निर्भर हैं। ये सब चीजें ही उनके शोषण का आर्थिक आधार है।

नव-स्वतंत्रता प्राप्त देशों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है वे आकस्मिक नहीं हैं। उनकी वजह—जैसाकि उपनिवेशवादी नस्लवादी उनको बदनाम करने तथा उनकी कठिनाइयों के असली कारण पर पर्दा डालने के लिए कहते है—यह भी हरगिज नहीं है कि उनके निवासी अपने नये राज्यों की अर्थ-व्यवस्था का प्रबन्ध और विकास करने के "अयोग्य" हैं। वास्तव में, कम विकसित देशों की आर्थिक कठिनाइयों का स्पष्ट कारण यह है कि उनमें से अधिकाश विश्व पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के नाग-फास से अभी तक अपने को मुक्त नही कर सके है और, इस वजह से, अब भी विदेशी इजारेदारियों के शोषण के शिकार है।

विकासोन्मुख देशों की कठिनाइयो का फायदा उठाकर साम्राजी देश उनके अन्दर अपनी स्थितियों को और भी मजबूत करने की कोशिशें कर रहे है। उनके इन लक्ष्यों की सिद्धि मे विदेशी पूंजी के प्रवाह तथा पूंजीवादी राज्यों द्वारा दी जाने वाली कपटी "सहायता" से सहायता मिलती है। वास्तव मे, निःस्वार्थ सहायता के नाम पर नव-स्वतत्रता प्राप्त देशो को उस विपुल धनराशि का केवल एक नगण्य अश ही साम्राजी देश वापिस दे रहे हैं जो अपनी पूजी के मुनाफों के रूप मे तथा असमान व्यापार आदि के हथकण्डों के द्वारा इन देशों से

अब भी निरन्तर वे लूट रहे हैं। आमतौर से यह "सहायता" भी ऐसी शर्तों पर दी जाती है जो उसे लेने वाले देशों के लिए अत्यन्त अपमानपूर्ण होती हैं और उन्हे नित नये-नये बन्धनों में जकडती जाती हैं। इन्ही शर्तों के द्वारा इन देशों से मांग की जाती है कि वे साम्राजियो के आक्रामक गुटों में शामिल हों, अपने देशों में विदेशी इजारेदारियो और उनसे सम्बद्ध स्थानीय निजी पूंजीपतियों को काम करने की अप्रतिबन्धित छूट दें, आदि। असमान विनिमय तथा विनियोजित पूंजी से कमाये जाने वाले ये मुनाफे एक प्रकार से वे पम्प हैं जिनके जरिए विकासोन्मुख देशों की अर्थ-व्यवस्था के खून को ये साम्राजी इजारेदार बराबर चूसते रहते हैं। विदेशी इजारेदारियों की आर्थिक पराधीनता के समस्त स्वरूपों से पूर्णतया मुक्त हो जाने पर ही विकासोन्मुख देशों की सच्ची प्रगति का मार्ग उन्मुक्त हो सकता है।

उन विकासोन्मुख देशों के लोग जो केवल ऊपरी नहीं, बल्कि वास्तविक स्वतंत्रता कायम करना चाहते है—अपने देश के प्राविधिक और आर्थिक पिछडेपन को दूर करने तथा विदेशी इजारेदारियो पर अपनी आर्थिक निर्भरता का अन्त करने के काम को अपना मुख्य कर्त्तव्य मानते हैं।

वर्तमान युग का मुख्य सार क्या है ?

वर्तमान युग को कभी परमाण्विक युग, कभी अन्तरिक्ष युग, और कभी स्व-चालन का युग कहा जाता है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की वर्तमानकालीन उपलब्धियां सचमुच ही बडी हैं। परमाण्विक ऊर्जा को काम के लिए नियन्त्रित कर लेना, अनन्त अन्तरिक्ष का अनुसन्धान कर डालना, उत्पादन के क्षेत्र मे स्व-चालित मशीनों तथा कार्यविधियों

का व्यापक रूप से प्रयोग करने लगना—ये तमाम चीजें मानवी बुद्धि की विजयें है। इनही वजह से विकास की अनन्त सम्भावनाओं के द्वार खुल गये है।

किन्तु विज्ञान और प्रौद्योगिकी की उपलब्धियाँ चाहे कितनी ही भव्य और विराट् क्यो न हो, वे अपने-आप जनता के भवितव्य को नही बदल सकती। जब तक साम्राज्यवाद मौजूद है तब तक परमाण्विक ऊर्जा का युद्ध के लिए इस्तेमाल किये जाने का खतरा भी मौजूद है। स्व-चालित उत्पादन की चमत्कारपूर्ण उपलब्धियाँ मानव-जाति के विशाल बहुमत की पहुँच से अब भी बाहर हैं। विकासोन्मुख देशों तथा उपनिवेशो की जनता के लिए अब भी वे एक सपना बनी हुई है। औद्योगिक रूप से विकसित पूँजीवादी राज्यों मे स्वचालन की व्यवस्था के साथ सामूहिक बेकारी का भी खतरा जुड़ा रहता है। इस बेकारी की वजह से दसियो लाख लोग अपनी जीविका तक के साधनो से वंचित हो जाते हैं।

वर्तमान युग का मूल तत्व (main content) मानव-जाति के सामाजिक पुनरुज्जीवन की प्रक्रिया है, जीर्ण-शीर्ण पूंजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था की ओर सक्रमण की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया एक पूरा ऐतिहासिक काल लेती है। यह काल पूंजीवाद के आम संकट का काल होता है। पूंजीवाद के आम संकट की मुख्य और खास विशेषता यह होती है कि उसके दौरान समाजवाद और पूंजीवाद की दो विरोधी सामाजिक व्यवस्थाओं का सघर्ष खूब तेज हो जाता है। आम जनता के करोडो-करोड उन लोगो के अगड़ाई लेकर उठ खड़े होने के कारण जो शासक वर्गों द्वारा डाली जाने वाली विघ्न-बाधाओं के कारण इतिहास निर्माण के कार्य में पहले भाग नही ले पाते थे, ऐतिहासिक विकास की गति असामान्य रूप से तीव्र हो गयी है। ससार का

मानचित्र अद्भुत तेजी से बदल रहा है। कुछ देशों में समाजवादी क्रान्तियाँ विजयी हो चुकी हैं; कुछ अन्य देशो मे राष्ट्रीय मुक्ति की क्रान्तियाँ पूर्ण हो गयी है। इनके फलस्वरूप, दुनिया के उस भाग के आन्तरिक अन्तर्विरोध और भी गहरे हो गये है जिनमे अब भी पूँजीवादी व्यवस्था क़ायम है।

इस प्रकार, पूँजीवाद के आम संकट के युग में तीन मुख्य प्रक्रियाएँ चलती दिखलाई पड़ती है :

एक तरफ तो जिन देशों मे समाजवादी क्रान्ति विजयी हो चुकी है, उनमें हम एक नयी दुनिया का निर्माण होते देखते हैं।

दूसरी तरफ हम देखते है कि उत्पीड़ित कौमे अपनी राष्ट्रीय-मुक्ति के लिए जो आन्दोलन कर रही हैं उनके प्रहारो के फलस्वरूप औपनिवेशिक दुनिया मे साम्राज्यवादी शासन का तेजी से विघटन होता जा रहा है।

तीसरी तरफ हम देखते है कि उन देशो मे भी जिनमें अब भी पूँजी का शासन कायम है, तमाम अन्तर्विरोध तेज हो गये है और नयी समाजवादी व्यवस्था की ओर सक्रमण के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ उनके अन्दर परिपक्व होती जा रही हैं।

ये तीनो प्रक्रियाएँ साथ-साथ चल रही है।

इन तीनो प्रक्रियाओ मे से पहली सर्वप्रमुख है और अन्य दोनो प्रक्रियाओं को भी निर्णायक रूप से प्रभावित कर रही है। समाजवाद तथा साम्यवाद की शक्तियों की प्रगति का पूँजीवाद के पतन के सम्पूर्ण ऐतिहासिक युग में निर्णायक महत्व होता है।

४. समाजवादकी आर्थिक व्यवस्था

समाजवादी क्रान्ति का सार-तत्व क्या है ?

हम कहते हैं : पूंजीवाद का उदय होता है, समाजवाद का निर्माण किया जा रहा है। इन दोनों कथनों का अन्तर केवल शाब्दिक नहीं है। वह एक वास्तविक अन्तर को प्रतिबिम्बित करता है। पूंजीवाद का उदय स्वयम्-स्फूर्त ढंग से होता है, उसकी रचना किसी सोद्देश्य योजना के अनुसार नही की जाती। शोषण व्यवस्था के इससे पहले के स्वरूपों का, अर्थात् दास-प्रथा और सामन्ती प्रथा का भी उदय स्वयम्-स्फूर्त ढंग से ही हुआ था। किन्तु उत्पादन की समाजवादी पद्धति को रचना करना एक सर्वथा भिन्न चीज है। उसकी सृष्टि तभी होती है जब पूंजीवाद के स्थान पर समाजवाद और साम्यवाद की स्थापना करने का लक्ष्य सामने रखकर मजदूर वर्ग आगे बढ़ता है। समाजवाद स्वयम्-स्फूर्त ढंग से नही कायम हो सकता। उसकी रचना मजदूर वर्ग के नेतृत्व मे आम जन समुदायो द्वारा किये जाने वाले सोद्देश्य कार्यों के आधार पर होती है।

किन्तु जब तक किसी देश मे पूंजीपति वर्ग सत्ताशाली होता है तब तक वहाँ समाजवाद का निर्माण करना असम्भव होता है, क्योकि उत्पादन के साधन पूंजीपतियो के हाथ मे होते है। समाजवाद के लिए जरूरी होता है कि उत्पादन के साधनों पर सार्वजनिक स्वामित्व कायम किया जाय। इसलिए, समाजवाद के निर्माण-कार्य का श्रीगणेश तभी किया जा सकता है जबकि राजकीय सत्ता (state power) पूंजीपति

वर्ग के हाथ से निकलकर मजदूर वर्ग के हाथ में पहुँच जाय।

इस काम को समाजवादी क्रान्ति के ज़रिए पूरा किया जाता है। राजसत्ता पर अधिकार करने के बाद मज़दूर वर्ग उत्पादन के साधनों को पूँजीपति वर्ग से छीन लेता है और उन्हें सार्वजनिक सम्पत्ति बना देता है। पूंजीवाद के उत्पादन सम्बन्धों (production relations) की जगह उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धो की स्थापना केवल तभी हो पाती है।

मानव इतिहास में क्रान्तियाँ अनेक हुई है, किन्तु सामाजिक जीवन की नीवो को इतनी गहराई तक उनमे से किसी ने भी नही प्रभावित किया था जितना कि समाजवादी क्रान्ति ने किया है।

पहले की तमाम क्रान्तियो के फलस्वरूप उत्पादन के साधनो के निजी स्वामित्व की एक व्यवस्था की जगह उसी तरह की एक दूसरी व्यवस्था ने ले ली थी। समाजवादी क्रान्ति उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व की व्यवस्था को मिटा देती है और उसके स्थान पर सार्वजनिक समाजवादी सम्पत्ति की एक नयी व्यवस्था की स्थापना कर देती है।

पहले की तमाम क्रान्तियों के फलस्वरूप शोषण की एक व्यवस्था की जगह उसी तरह की एक दूसरी व्यवस्था की स्थापना हो गयी थी। किन्तु समाजवादी क्रान्ति मानव द्वारा मानव के हर प्रकार के शोषण का अन्त कर देती है। शोषण के जुए से श्रम की मुक्ति हो जाने का, मेहनतकश जनता की आर्थिक दासता की बेडियो के टूट जाने का अर्थ यह होता है कि फिर शोषक वर्गो तथा परजीवीवाद, कामचोरी, झूठी नैतिकता, आदि की उनकी असामाजिक भावनाओ का भी अन्त हो जाता है।

पहले की तमाम क्रान्तियों से सामाजिक उत्पादन की अराजकता में कोई फर्क नहीं आया था। किन्तु समाजवादी क्रान्ति उत्पादन की अराजकता का भी अन्त कर देती है। उसके फलस्वरूप सामाजिक उत्पादन का संगठन नियोजित रूप से होने लगता है। सामाजिक सम्पत्ति की बुनियाद पर क़ायम अर्थ-व्यवस्था का विकास योजनाबद्ध ढंग से ही किया जा सकता है।

इस भाँति, समाजवादी क्रान्ति मानवजाति के पूरे इतिहास की सबसे युगान्तरकारी क्रान्ति है।

समाजवादी क्रान्ति के क्या काम होते हैं ?

समाजवादी क्रान्ति के फलस्वरूप राजकीय सत्ता पूंजीवादी अल्पमत के हाथ से निकलकर समाज के विशाल बहुमत के नेता, व्यापकतम जनता के नेता—मजदूर वर्ग के हाथ में पहुँच जाती है।

समाजवादी क्रान्ति जनता के व्यापकतम अंगों को जगा देती है और इतिहास-निर्माण के काम मे उन्हें साझीदार बना देती है। समाजवादी निर्माण का लक्ष्य समस्त श्रमजीवी जनता का लक्ष्य है। समाजवाद का अर्थ ही है जनता का जीवित, सृजनात्मक प्रयास। नये जीवन की रचना के काम मे आम जनता पूरे जोश और उल्लास से भाग ले—समाजवादी युग का यह एक अपरिहार्य नियम है।

पूंजीवादी क्रान्तियों के दौरान आम जनता को पूंजीवादी वर्ग किसी लम्बे अरसे तक अपने साथ नही रख सका था। मेहनतकश जनता के सामने इस बात को जीवन ने जल्दी ही स्पष्ट कर दिया था कि पूंजीवादी क्रान्तियों ने शोषण का अन्त करने के बजाय, शोषण के

केवल एक दूसरे तरीके की स्थापना कर दी थी। किन्तु समाज के समाजवादी पुनर्निर्माण के दौरान मेहनतकश जनता स्वयं स्पष्ट रूप से देखती है कि उसके बुनियादी हितों और मजदूर वर्ग के हितों के बीच पूरा सामञ्जस्य है, अभिन्न रूप से वे एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।

यही वह आधार होता है जिस पर समाजवाद का निर्माण करने और बाद में समाजवाद की ओर बढने के लिए मजदूर वर्ग तथा मेहनतकश किसान वर्ग की ठोस और अटूट मित्रता की स्थापना होती है। यह एक विशेष प्रकार की मित्रता होती है: इसका उद्देश्य वर्ग-भेदों को कायम रखना नही, बल्कि जड़-मूल से उनका उन्मूलन करना होता है।

पुराने समाज की शक्तियो और परम्पराओं से लडने के लिए समाजवादी राज्य मेहनतकश जनता को सुसगठित करता है। शोषकों के प्रतिरोध का मुकाबला करते हुए और विदेशियो की शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयों से देश की रक्षा करते हुए, वह नयी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के निर्माण-कार्य को सुसंगठित करता है और उसका पथ-निर्देशन करता है। इस निर्माण-कार्य के दौरान उत्पादन के पुराने पूंजीवादी सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं और उत्पादन के नये, समाजवादी सम्बन्धों की सृष्टि हो जाती है। उत्पादन के समाजवादी तरीके की रचना करने और फिर उसका विस्तार करने के लिए जिन नयी उत्पादक शक्तियों की आवश्यकता होती है उनका भी विकास निर्माण की इसी प्रक्रिया के दौरान हो जाता है।

विश्व समाजवादी क्रान्ति किस तरह बढ़ती है ?

विश्व समाजवादी क्रान्ति विश्व क्रान्ति से अभिन्न रूप से

प्रत्येक देश की समाजवादी क्रान्ति विश्व क्रान्ति से अभिन्न रूप से

जुड़ी होती है। किन्तु उसे करता है उस देश का मजदूर वर्ग ही है, वहाँ की जनता ही। उसे आदेश देकर नहीं कराया जा सकता और न उसे बाहर से लादा जा सकता है। उसका जन्म पूंजीवाद के आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय अन्तर्विरोधों के उग्र हो जाने की वजह से होता है।

रूस में होने वाली १९१७ की महान् अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति इतिहास की प्रथम विजयी समाजवादी क्रान्ति थी। उसने विश्व पूंजीवादी व्यवस्था की चूलें हिला दीं थी और उसके भावी अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर दिया था।

महान् अक्तूबर क्रान्ति की विजय समस्त मानव-जाति के इतिहास मे एक नया मोड़ थी। विश्व इतिहास में एक नये युग का, पूंजीवाद के पतन तथा एक नयी, उच्चतर सामाजिक व्यवस्था की—समाजवादी व्यवस्था की रचना के युग का, समाजवाद के युग का उसने सूत्रपात कर दिया था। उसके फलस्वरूप पूजीपतियों के इस झूठे प्रचार की धज्जियाँ उड़ गयी कि क्रान्तिकारी समाजवादी ढग से समाज का पुर्निर्माण कर सकना असम्भव है। सच्चाई की, अमल की अकाट्य कसौटी पर कसकर इस पूजीवादी प्रचार के उसने परखचे उड़ा दिये।

अब सारी दुनिया ने देख लिया कि समाजवाद की स्थापना करना पूर्णतया सम्भव है क्योंकि एक विशाल देश में उसकी विजय हो चुकी है। सोवियत संघ में समाजवाद की स्थापना ने सिद्ध कर दिया है कि पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त अवश्यम्भावी है। सारी दुनिया को उसने दिखा दिया है कि समाजवादी व्यवस्था एक अधिक ऊँची और ऐसी प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था है जो पूंजीवादी व्यवस्था से

निर्णायक रूप से, हर माने में बेहतर है। इसीलिए सारी दुनिया में करोड़ों लोग आहिस्ता-आहिस्ता समाजवाद के झण्डे के नीचे आते जा रहे हैं।

इतिहास का रथ आगे बढ़ा तो और भी कई योरोपीय और एशियाई देशों मे पूंजीवाद के गढ़ धराशायी हो गये। पूंजीवाद से नजात पाकर इन देशों ने समाजवाद का रास्ता अपनाया। एक देश की सीमाओं से बाहर निकल कर समाजवाद ने एक विश्व-व्यवस्था का रूप ले लिया। इस युगान्तरकारी प्रक्रिया को रोकने में पूंजीवाद असमर्थ साबित हुआ। मानवजाति के एक-तिहाई से अधिक भाग ने पूंजीवाद के जुए को उतार कर हमेशा के लिए फेंक दिया है। शेष दुनिया मे भी पूंजीवादी शासन के मुख्य आधार दिनों-दिन कमजोर होते जा रहे है।

साम्राज्यवादियो द्वारा छेड़े गये प्रथम और द्वितीय दोनों विश्व-युद्धो की परिणति समाजवादी क्रान्तियों मे हुई है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही होता कि समाजवादी क्रान्तियाँ केवल युद्ध के फलस्वरूप ही सफल होती है। इसके विपरीत, बिना युद्ध के समाजवादी क्रान्ति बहुत अच्छी तरह से हो सकती है। इसके लिए पिछले किसी भी समय की अपेक्षा आज की परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल हैं। दुनिया की वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थिति मे समाजवाद का पलडा दिनोदिन भारी होता जा रहा है और पूंजीवाद की स्थिति बेहद कमजोर होती जा रही है, इसलिए समाजवाद की चुम्बक-शक्ति और भी अधिक बढ गयी है। विभिन्न देशों मे समाजवाद की ओर उन्मुख होने की नयी-नयी सम्भावनाएँ पैदा होती जा रही है। समाजवाद की ओर संक्रमण के लिए आज अनेक रास्ते खुल गये है। अलग-अलग देश अब अलग-अलग स्वरूपो (forms) का इस्तेमाल करके समाजवाद की ओर जा

सकते हैं। जाहिर है कि इस संक्रमण के लिए रास्ता चाहे जो अपनाया जाय, उसकी क्रिया, पूंजीवादी समाज से समाजवादी समाज में रूपान्तरण की क्रिया, एक अत्यन्त प्रगाढ और क्रान्तिकारी क्रिया होती है। इस रूपान्तरण के लिए आवश्यक होता है कि मजदूर वर्ग और उसकी एक उन्नत सुसंगठित राजनीतिक पार्टी का नेतृत्व मौजूद हो। इस रूपान्तरण की यह एक अनिवार्य और निर्णायक शर्त है।

किन्तु समाजवादी क्रान्ति के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। खासतौर से, यह जरा भी जरूरी नहीं है कि इस क्रान्ति के साथ गृह-युद्ध भी हो। अनेक पूंजीवादी देशों मे किन्हीं खास परिस्थितियों मे समाजवादी क्रान्ति शान्तिपूर्वक भी हो सकती है। वर्तमान परिस्थितियों में अनेक देशो के लिए संसदीय पद्धति का इस्तेमाल करके भी समाजवाद की ओर सक्रमण करना संभव है। किन्तु प्रतिक्रिया-वादी शक्तियों का प्रतिरोध जहाँ कडा होगा लाज़मी तौर पर वहाँ वर्ग-संघर्ष भी अत्यन्त तेज़ हो जायेगा और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतिरोध को कुचलने के लिए बल का प्रयोग करना अनिवार्य हो जायेगा।

समाजवादी सम्पत्ति की कैसे विजय होती है ?

निजी सम्पत्ति के दोनों स्वरूपों के समाजवादीकरण (socialising) के कार्य को समाजवादी क्रान्ति भिन्न-भिन्न तरीकों से पूरा करती है। एक तरफ तो पूंजीपतियों और भूपतियों की निजी सम्पत्ति होती है; यही सर्वहारा वर्ग तथा किसानों के शोषण का आधार होती है। दूसरी तरह की निजी सम्पत्ति छोटे-छोटे उत्पादकों, प्रधानतया किसानों की

निर्णायक रूप से, हर माने में बेहतर है। इसीलिए सारी दुनिया में करोड़ों लोग आहिस्ता-आहिस्ता समाजवाद के झण्डे के नीचे आते जा रहे हैं।

इतिहास का रथ आगे बढ़ा तो और भी कई योरोपीय और एशियाई देशों में पूँजीवाद के गढ़ धराशायी हो गये। पूँजीवाद से नजात पाकर इन देशों ने समाजवाद का रास्ता अपनाया। एक देश की सीमाओं से बाहर निकल कर समाजवाद ने एक विश्व-व्यवस्था का रूप ले लिया। इस युगान्तरकारी प्रक्रिया को रोकने में पूँजीवाद असमर्थ साबित हुआ। मानवजाति के एक-तिहाई से अधिक भाग ने पूँजीवाद के जुए को उतार कर हमेशा के लिए फेंक दिया है। शेष दुनिया में भी पूँजीवादी शासन के मुख्य आधार दिनों-दिन कमजोर होते जा रहे हैं।

साम्राज्यवादियों द्वारा छेड़े गये प्रथम और द्वितीय दोनों विश्व-युद्धों की परिणति समाजवादी क्रान्तियों में हुई है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि समाजवादी क्रान्तियाँ केवल युद्ध के फलस्वरूप ही सफल होती हैं। इसके विपरीत, बिना युद्ध के समाजवादी क्रान्ति बहुत अच्छी तरह से हो सकती है। इसके लिए पिछले किसी भी समय की अपेक्षा आज की परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल हैं। दुनिया की वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थिति में समाजवाद का पलड़ा दिनोंदिन भारी होता जा रहा है और पूँजीवाद की स्थिति बेहद कमजोर होती जा रही है, इसलिए समाजवाद की चुम्बक-शक्ति और भी अधिक बढ़ गयी है। विभिन्न देशों में समाजवाद की ओर उन्मुख होने की नयी-नयी सम्भावनाएँ पैदा होती जा रही हैं। समाजवाद की ओर संक्रमण के लिए आज अनेक रास्ते खुल गये हैं। अलग-अलग देश अब अलग-अलग स्वरूपों (forms) का इस्तेमाल करके समाजवाद की ओर जा

सकते हैं। जाहिर है कि इस संक्रमण के लिए रास्ता चाहे जो अपनाया जाय, उसकी क्रिया, पूंजीवादी समाज से समाजवादी समाज मे रूपान्तरण की क्रिया, एक अत्यन्त प्रगाढ़ और क्रान्तिकारी क्रिया होती है। इस रूपान्तरण के लिए आवश्यक होता है कि मजदूर वर्ग और उसकी एक उन्नत सुसंगठित राजनीतिक पार्टी का नेतृत्व मौजूद हो। इस रूपान्तरण की यह एक अनिवार्य और निर्णायक शर्त है।

किन्तु समाजवादी क्रान्ति के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। खासतौर से, यह जरा भी जरूरी नही है कि इस क्रान्ति के साथ गृह-युद्ध भी हो। अनेक पूजीवादी देशों में किन्हीं खास परिस्थितियों मे समाजवादी क्रान्ति शान्तिपूर्वक भी हो सकती है। वर्तमान परिस्थितियो मे अनेक देशो के लिए ससदीय पद्धति का इस्तेमाल करके भी समाजवाद की ओर संक्रमण करना संभव है। किन्तु प्रतिक्रिया-वादी शक्तियो का प्रतिरोध जहाँ कडा होगा लाजमी तौर पर वहाँ वर्ग-संघर्ष भी अत्यन्त तेज हो जायेगा और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतिरोध को कुचलने के लिए बल का प्रयोग करना अनिवार्य हो जायेगा।

समाजवादी सम्पत्ति की कैसे विजय होती है ?

निजी सम्पत्ति के दोनों स्वरूपों के समाजवादीकरण (socialising) के कार्य को समाजवादी क्रान्ति भिन्न-भिन्न तरीको से पूरा करती है। एक तरफ तो पूँजीपतियों और भूपतियों की निजी सम्पत्ति होती है; यही सर्वहारा वर्ग तथा किसानों के शोषण का आधार होती है। दूसरी तरह की निजी सम्पत्ति छोटे-छोटे उत्पादको, प्रधानतया किसानो की

निर्णायक रूप से, हर माने मे बेहतर है। इसीलिए सारी दुनिया में करोड़ों लोग आहिस्ता-आहिस्ता समाजवाद के झण्डे के नीचे आते जा रहे हैं।

इतिहास का रथ आगे बढ़ा तो और भी कई योरोपीय और एशियाई देशों मे पूंजीवाद के गढ धराशायी हो गये। पूंजीवाद से नजात पाकर इन देशों ने समाजवाद का रास्ता अपनाया। एक देश की सीमाओ से बाहर निकल कर समाजवाद ने एक विश्व-व्यवस्था का रूप ले लिया। इस युगान्तरकारी प्रक्रिया को रोकने में पूंजीवाद असमर्थ साबित हुआ। मानवजाति के एक-तिहाई से अधिक भाग ने पूजीवाद के जुए को उतार कर हमेशा के लिए फेंक दिया है। शेष दुनिया मे भी पूंजीवादी शासन के मुख्य आधार दिनों-दिन कमजोर होते जा रहे है।

साम्राज्यवादियों द्वारा छेड़े गये प्रथम और द्वितीय दोनो विश्व-युद्धों की परिणति समाजवादी क्रान्तियों मे हुई है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही होता कि समाजवादी क्रान्तियाँ केवल युद्ध के फलस्वरूप ही सफल होती है। इसके विपरीत, बिना युद्ध के समाजवादी क्रान्ति बहुत अच्छी तरह से हो सकती है। इसके लिए पिछले किसी भी समय की अपेक्षा आज की परिस्थितियां अधिक अनुकूल है। दुनिया की वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थिति मे समाजवाद का पलड़ा दिनोदिन भारी होता जा रहा है और पूजीवाद की स्थिति बेहद कमजोर होती जा रही है; इसलिए समाजवाद की चुम्बक-शक्ति और भी अधिक बढ गयी है। विभिन्न देशों में समाजवाद की ओर उन्मुख होने की नयी-नयी सम्भावनाएँ पैदा होती जा रही है। समाजवाद की ओर संक्रमण के लिए आज अनेक रास्ते खुल गये हैं। अलग-अलग देश अब अलग-अलग स्वरूपों (forms) का इस्तेमाल करके समाजवाद की ओर जा

सकते हैं। जाहिर है कि इस संक्रमण के लिए रास्ता चाहे जो अपनाया जाय, उसकी क्रिया, पूंजीवादी समाज से समाजवादी समाज में रूपान्तरण की क्रिया, एक अत्यन्त प्रगाढ और क्रान्तिकारी क्रिया होती है। इस रूपान्तरण के लिए आवश्यक होता है कि मजदूर वर्ग और उसकी एक उन्नत सुसंगठित राजनीतिक पार्टी का नेतृत्व मौजूद हो। इस रूपान्तरण की यह एक अनिवार्य और निर्णायक शर्त है।

किन्तु समाजवादी क्रान्ति के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। खासतौर से, यह जरा भी जरूरी नही है कि इस क्रान्ति के साथ गृह-युद्ध भी हो। अनेक पूजीवादी देशो मे किन्ही खास परिस्थितियो मे समाजवादी क्रान्ति शान्तिपूर्वक भी हो सकती है। वर्तमान परिस्थितियों में अनेक देशों के लिए संसदीय पद्धति का इस्तेमाल करके भी समाजवाद की ओर संक्रमण करना सभव है। किन्तु प्रतिक्रिया-वादी शक्तियो का प्रतिरोध जहाँ कडा होगा लाजमी तौर पर वहाँ वर्ग-संघर्ष भी अन्यन्त तेज हो जायेगा और प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतिरोध को कुचलने के लिए बल का प्रयोग करना अनिवार्य हो जायेगा।

समाजवादी सम्पत्ति की कैसे विजय होती है ?

निजी सम्पत्ति के दोनों स्वरूपों के समाजवादीकरण (socialising) के कार्य को समाजवादी क्रान्ति भिन्न-भिन्न तरीको से पूरा करती है। एक तरफ तो पूँजीपतियो और भूपतियों की निजी सम्पत्ति होती है; यही सर्वहारा वर्ग तथा किसानों के शोषण का आधार होती है। दूसरी तरह की निजी सम्पत्ति छोटे-छोटे उत्पादकों, प्रधानतया किसानो की

सम्पत्ति होती है; यह व्यक्तिगत मेहनत-मशक्कत द्वारा छोटे-पैमाने पर मालों का उत्पादन करने के काम मे सहायक होती है।

उत्पादन के साधनो के सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्था दो अलग-अलग तरीको से कायम होती है।

समाजवादी राज्य किसी न किसी तरह भूस्वामियो से जमीन ले लेता है और पूँजीपतियों से फैक्ट्रियाँ, रेलें और बैंकें ले लेता है और उन्हे तमाम जनता की सम्पत्ति बना देता है। यह काम अपेक्षाकृत एक छोटे काल के अन्दर ही पूरा हो जाता है।

किन्तु छोटे-छोटे किसानो की सम्पत्ति का समाजवादीकरण करने के लिए समाजवादी राज्य बिल्कुल दूसरा तरीका अपनाता है। चारों तरफ बिखरे हुए कृषि के छोटे पैमाने के उत्पादन को वह सहकारिता के रास्ते पर, बड़े पैमाने के उत्पादन के रास्ते पर ले जाने की चेष्टा करता है। किसान परिवारों के स्वेच्छापूर्वक सहकारी सघो मे शामिल हो जाने तथा उत्पादन के उनके साधनो का समाजवादीकरण हो जाने से उत्पादको की सहकारी समितियों की समाजवादी सम्पत्ति की स्थापना हो जाती है। उत्पादको की ये सहकारी समितियाँ देहातों मे भिन्न-भिन्न तरह से संगठित होती हैं। इस कार्य को पूरा करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक समय की दरकार होती है।

इन दो समस्याओ के हल हो जाने के बाद ही पूँजीवाद से समाजवाद की ओर सक्रमण का काल पूरा होता है। इसी वजह से सक्रमण के पूरे काल मे देश के अन्दर अर्थ-व्यवस्था के कई रूप साथ-साथ चलते रहते हैं: उसमे भिन्न-भिन्न आर्थिक व्यवस्थाओं के तत्व एक साथ मौजूद रहते हैं।

पूंजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण के काल की क्या खास विशेषताएँ है ?

संक्रमण-काल में अर्थ-व्यवस्था के निम्न मुख्य रूप रहते है: समाजवादी व्यवस्था, मालो के छोटे पैमाने के उत्पादन की व्यवस्था, और पूंजीवादी व्यवस्था। अर्थ-व्यवस्था के इन तीन स्वरूपो के अनुसार सम्पत्ति के भी तीन स्वरूप और तीन बुनियादी वर्गशक्तियां होती हैं। मजदूर वर्ग होता है, किसान वर्ग होता है और पूंजीपतियों का वर्ग होता है। मालो का छोटे पैमाने का उत्पादन पूंजीवाद को निरन्तर शक्ति पहुँचाता रहता है। वह निरन्तर पूंजीवादी तत्व पैदा करता रहता है।

मजदूर वर्ग और पूंजीपति वर्ग के दरम्यान संक्रमण काल मे एक जबरदस्त संघर्ष चलता है। मजदूर वर्ग कोशिश करता है कि किसानों के मुख्य भाग को पूंजीपति वर्ग के प्रभाव से वह बाहर निकाल ले। इस काम मे मजदूरों और किसानों की वह ठोस और अटूट मित्रता उसकी मदद करती है जिसका पूंजीपति वर्ग तथा पूजीवाद से लड़ने और समाजवादी समाज की रचना के लिए निर्माण किया जाता है।

पूजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण के इस काल में अनिवार्य रूप से सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के इन दोनों ही स्वरूपों की विशेषताएँ पायी जाती है। यह काल एक ऐसा काल होता है जिसमें पूंजीवाद— जिसे हराया तो जा चुका है किन्तु अभी तक नष्ट नही किया जा सका है— और नवजात, किन्तु कमजोर, समाजवाद के बीच घनघोर सघर्ष चलता है। सोवियत सघ तथा जनता की लोकशाहियो के अनुभवों ने स्पष्ट कर दिया है कि अलग-अलग इस संघर्ष के रूप होते हैं। किन्तु, इस बहु-स्वरूपी *अर्थ-व्यवस्था (multi-form economy)* के *विकास*

का परिणाम हर जगह एक ही होता है : प्रत्येक क्षेत्र में समाजवाद की विजय होती है; —अर्थात्, सम्पत्ति के गैर-समाजवादी स्वरूप धीरे-धीरे खारिज होते जाते है और उनके स्थान पर समाजवादी सम्पत्ति की स्थापना होती जाती है। इस समाजवादी सम्पत्ति के दो स्वरूप होते हैं : राजकीय (state) और सहकारी (cooperative) अन्त मे, सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था का समाजवादी पुर्ननिमाण हो जाने पर समाजवादी अर्थ- व्यवस्था की स्थापना हो जाती है।

समाजवाद कम्युनिस्ट (साम्यवादी) समाज की पहली मजिल होता है। उसकी विजय होते ही पूँजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण का काल पूरा हो जाता है। समाजवादी समाज फिर और विकसित होता हुआ कम्युनिज्म (साम्यवाद) की ओर ऊँची मजिलो की तरफ बढता है।

समाजवाद के आर्थिक नियम किस प्रकार काम करते हैं ?

पूजीवादी समाज, अथवा किसी भी अन्य सामाजिक-आर्थिक सरचना के आर्थिक नियमो की ही तरह, समाजवाद के आर्थिक नियम भी वस्तुगत (objective) होते है। इसका मतलब होता है कि वे वास्तविक घटना-प्रवाहो के अन्तर-सम्बन्ध को व्यक्त करते है और उनका अस्तित्व जनता की इच्छा और चेतना से स्वतंत्र होता है।

किन्तु समाजवादी समाज मे लोगों को न केवल वस्तुगत आर्थिक नियमो की जानकारी हो जाती है, बल्कि सबके हित मे समाज का आर्थिक विकास करने के काम में नियोजित ढग से वे उनका इस्तेमाल भी करने लगते हैं। पहले की तमाम सामाजिक व्यवस्थाओं के आर्थिक नियमो मे और समाजवाद के आर्थिक नियमो मे यही बडा फ़र्क होता

है। यह फर्क कुछ उसी तरह का फ़र्क है जैसा बिजली की विनाशकारी शक्ति और उस नियंत्रित विद्युत्-शक्ति के बीच होता है जिसका मानव अपनी मर्ज़ी के अनुसार तार के यंत्र अथवा बिजली के बल्ब मे इस्तेमाल करता है। अथवा कह सकते है कि पुराने समाजो के आर्थिक नियमों तथा समाजवादी समाज के आर्थिक नियमो मे उसी तरह का फर्क होता है जैसा किसी अग्निकाण्ड और उस आग के दरम्यान होता है जिसे वशीभूत करके मनुष्य की चेरी बना लिया जाता है। बिजली अपने आप गिर पडती है; मानव उसका सामना नही कर पाता। किन्तु बिजली के बल्ब मे जब उसे नियंत्रित कर लिया जाता है तब मानव के लिए प्रकृति की वह एक समझी-बूझी शक्ति बन जाती है और उसका सोद्देश्य रूप से इस्तेमाल किया जा सकता है। तब वह मानवीय आवश्यकताओ की सेविका बन जाती है।

पूजीवाद तथा इससे पहले जितनी सामाजिक व्यवस्थाएँ हुई है उन सबके आर्थिक नियम स्वयम्-स्फूर्त रूप से काम करते है। मनुष्य का उन पर उतना ही नियन्त्रण होता है जितना आकाश में कड़कने वाली बिजली पर। बिजली की प्रकृति को विज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है— इसके बावजूद मानव अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अभी तक उसका इस्तेमाल नही कर पाता। ठीक यही बात पूजीवाद के आर्थिक नियमों के बारे मे है। इन्सानों को वे एक ऐसी बाहरी प्राकृतिक शक्ति के रूप मे देखते हैं जो उनके ऊपर हावी होने की कोशिश करती है और इसलिए उनका विरोध करते है। इन नियमो की प्रकृति को स्पष्ट कर देना सम्भव है, किन्तु उन्हे समाज की सेवा मे लगा सकना असम्भव है। वे अन्तहीन भटकावों, उतार-चढ़ावों, तथा उपद्रवों के बीच काम करते हैं। वे सघातक (destructive) ढंग से काम करते है; वे संकटों, बेकारी, तथा इसी तरह की जनता के श्रम को तबाह करने वाली अन्य व्याधियों को जन्म देते हैं।

पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण हो जाने पर उत्पादन की अराजकता समाप्त हो जाती है और उसके स्थान पर अर्थ-व्यवस्था के नियोजित संगठन की प्रणाली स्थापित हो जाती है। निजी सम्पत्ति समाज मे फूट डालती है और व्यक्तिगत ढंग से, अलग-अलग काम करने वाले उत्पादकों के रूप मे उसके टुकड़े-टुकड़े कर देती है। इसके विपरीत, सार्वजनिक सम्पत्ति राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को एक अविच्छिन्न इकाई के रूप मे एकताबद्ध कर देती है। फिर पूरी अर्थ-व्यवस्था तथा उसके अलग-अलग उद्यमो का विकास सोद्देश्य तथा उपयोगी ढंग से होने लगता है; समाज की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था तथा उसके अलग-अलग उद्यम— सब मानवीय श्रम की उद्देश्यपूर्ण तथा लाभदायी क्रियाशीलता के क्षेत्र बन जाते हैं। राज्य की सम्पूर्ण आर्थिक मशीन को समाजवाद एक ऐसे अविच्छिन्न आर्थिक संगठन का रूप दे देता है जिसमे करोड़ों लोग एक ही योजना के अनुसार सुचारु रूप से काम करते है।

समाजवाद के आर्थिक नियमो को समाज कैसे वश में करता है ?

समाजवादी समाज मे लोग न केवल आर्थिक नियमो की जानकारी रखते हैं, बल्कि उन्हें अपने काम का भी आधार बनाते है। इस प्रकार उनपर वे अपना शासन कायम कर लेते है। समाजवाद के आर्थिक नियमों का इस्तेमाल उनकी पूर्ण जानकारी के आधार पर समाज करता है। उन्हे वशीभूत करके वह उसी तरह अधीन बना लेता है जिस तरह बिजली के बल्ब के अन्दर विद्युतशक्ति को बन्द करके मानव ने उसे अपने अधीन कर लिया है।

समाजवाद और साम्यवाद का उदय और विकास समाज की आर्थिक प्रगति को संचालित करने वाले वस्तुगत नियमों के परिचलन

समाजवादी निर्माण-कार्य के क्रम में इस व्यवस्था के नियमों की समाज और भी अधिक गहराई से जानकारी प्राप्त करता है तथा और भी अधिक सफलतापूर्वक उन पर अपना अधिकार कायम करता है। काफी अनुभव हो जाने पर समाजवाद के आर्थिक नियमों का उपयोग करने के काम को और भी सुधारा तथा उन्नत किया जा सकता है। जब इन नियमों का इस्तेमाल उचित ढंग से किया जाता है तो व्यावहारिक कार्यों को सफलतापूर्वक पूरा करने में उनसे मदद मिलती है; किन्तु इन नियमों को यदि अनदेखा कर दिया जाता है तो अर्थ-व्यवस्था को नुकसान पहुँचता है।

समाजवादी राज्य की आर्थिक भूमिका क्या होती है ?

पूँजीवाद का विकास स्वयम्-स्फूर्त आर्थिक नियमों के अनुसार होता है; किन्तु समाजवाद की प्रगति सामाजिक विकास का संचालन करने वाले वस्तुगत आर्थिक नियमों के सोद्देश्य उपयोग पर निर्भर करती है; इसलिए पूँजीवाद से समाजवाद में संक्रमण होने पर समाज के अन्दर राज्य की भूमिका भी मूलतः बदल जाती है।

समाज के आर्थिक विकास में समाजवादी राज्य की क्या भूमिका होती है—इसे समझने के लिए आवश्यक है कि पूँजीवादी और सर्वहारा क्रान्तियों के मूलभूत अन्तर को समझा जाय। पूँजीवादी क्रान्ति के समय आम लोगों का काम सामन्तवाद का विध्वंस करने में पूँजीपति वर्ग की सिर्फ मदद करने का था; नये समाज को संगठित करने का प्रयत्न-साध्य अथवा रचनात्मक काम आबादी के सम्पत्तिशाली अल्प-सख्यकों ने, अर्थात् पूँजीपति वर्ग ने किया था। समाजवादी क्रान्ति

की स्थिति बिल्कुल उल्टी होती है। उसके दौरान मजदूर वर्ग तथा दूसरे मेहनतकश लोगों का वह नेतृत्व करता है। उनका मुख्य काम यह होता है कि उत्पादन-सम्बन्धों के अत्यन्त जटिल तथा सूक्ष्म ताने-बाने को जमाने मे वे एक सकारात्मक अथवा ठोस भूमिका अदा करें। उत्पादन सम्बन्धो के ताने-बाने के अन्तर्गत नियोजित उत्पादन और वितरण दोनो आ जाते है। इसलिए, समाजवादी क्रान्ति केवल तभी सफल हो सकती है जबकि जन-सख्या का बहुमत, अर्थात् मेहनतकश जनता स्वयं इतिहास की स्वतत्र निर्माता बन जाय।

पूंजीवादी और समाजवादी क्रान्तियो में जो यह बुनियादी फर्क है—इससे सर्वहारा राज्य की रचनात्मक भूमिका के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। समाजवादी क्रान्ति के गर्भ से एक सर्वथा नये प्रकार के राज्य का जन्म होता है। ऐसे राज्य का इतिहास मे दूसरा कोई उदाहरण नही मिलता। इस राज्य के सामने जो काम होते है वे भी ऐसे होते है जैसे इससे पहले किसी अन्य राज्य को नही करने पडे थे। उसे पूंजीवाद की पुरानी, जीर्ण-शीर्ण अर्थ-व्यवस्था को नष्ट करके उसके स्थान पर अर्थ-व्यवस्था के नये स्वरूपो की रचना करनी होती है—एक नयी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना होता है।

समाजवादी राजसत्ता की शक्ति का क्या स्रोत है ?

सर्वहारा क्रान्ति के गर्भ से जन्म लेने वाली राजसत्ता के सामने न केवल विराट् कार्य करने के लिए होते है, बल्कि इन कार्यों को पूरा करने की वास्तविक सम्भावनाएँ भी मौजूद रहती है। इसकी वजह

यह है कि मानव द्वारा मानव के शोषण की व्यवस्था का अन्त कर देने के बाद, इतिहास मे पहली बार यह राजसत्ता एक सच्चे जनवाद की स्थापना करती है। पूँजीवादी जनतन्त्र दिखाऊ और झूठा होता है; किन्तु समाजवादी राजसत्ता के अन्तर्गत समस्त मेहनतकश जनता को वास्तविक जनतांत्रिक अधिकार प्राप्त होते है। उसके अन्तर्गत जन सख्या के विशाल बहुमत को इतिहास में पहली बार न केवल संवैधानिक अधिकार प्राप्त हो जाते है, बल्कि उनका उपयोग करने के लिए वास्तविक अवसरों की भी व्यवस्था कर दी जाती है।

इस भांति, समाजवादी राजसत्ता जनता को आगे बढ़ाती है और उसे इतिहास के निर्माण-कार्य मे लगाती है। यही उसकी विराट् रचनात्मक शक्ति का अक्षय स्रोत है। वह जन समुदायों के संगठनकर्त्ता के रूप मे कार्य करती है और इतिहास का निर्माण करने के, सामाजिक जीवन के समस्त क्षेत्रों मे आमूल परिवर्तन करने के उनके प्रयत्नो का निर्देशन करती है।

के लिए उसका बहुत महत्व होता है, इसलिए उसको भी वही तैयार करती है।

समाजवादी समाज में उत्पादन का क्या लक्ष्य होता है ?

पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण हो जाने पर उत्पादन का भी लक्ष्य आमूल रूप से बदल जाता है।

पूंजीपति के लिए उत्पादन का सीधा लक्ष्य मजदूरों के श्रम का शोषण करके मुनाफे कमाना होता है। पूंजीवादी समाज में उत्पादन केवल आखिर में ही किसी न किसी रूप में जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

मानव द्वारा मानव के शोषण की व्याधि से मुक्त समाजवादी समाज में उत्पादन का लक्ष्य व्यक्तियों की तिजोरियां भरना न होकर जन आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। समाजवाद का लक्ष्य होता है कि सामाजिक उत्पादन का निरन्तर विस्तार और सुधार करते हुए जनता की दिनोदिन बढती भौतिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं की वह अधिकाधिक मात्रा में सम्पूर्ति करे। समाजवाद का दूसरा कोई लक्ष्य नहीं होता, न हो ही सकता है।

इस प्रकार मुनाफा कमाने के उद्देश्य से किये जाने वाले अराजकतावादी उत्पादन के स्थान पर समाजवाद एक नियोजित उत्पादन की एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करता है जिसका उद्देश्य केवल समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।

इसके फलस्वरूप, सम्पूर्ण समाज की बढ़ती हुई जरूरतों की

यह है कि मानव द्वारा मानव के शोषण की व्यवस्था का अन्त कर देने के बाद, इतिहास में पहली बार यह राजसत्ता एक सच्चे जनवाद की स्थापना करती है। पूंजीवादी जनतंत्र दिखाऊ और झूठा होता है; किन्तु समाजवादी राजसत्ता के अन्तर्गत समस्त मेहनतकश जनता को वास्तविक जनतांत्रिक अधिकार प्राप्त होते हैं। उसके अन्तर्गत जन संख्या के विशाल बहुमत को इतिहास में पहली बार न केवल संवैधानिक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं, वल्कि उनका उपयोग करने के लिए वास्तविक अवसरों की भी व्यवस्था कर दी जाती है।

इस भांति, समाजवादी राजसत्ता जनता को आगे बढाती है और उसे इतिहास के निर्माण-कार्य में लगाती है। यही उसकी विराट् रचनात्मक शक्ति का अक्षय स्रोत है। वह जन समुदायों के संगठनकर्ता के रूप में कार्य करती है और इतिहास का निर्माण करने के, सामाजिक जीवन के समस्त क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन करने के उनके प्रयत्नों का निर्देशन करती है।

समाजवादी राजसत्ता दीर्घकालीन तथा फौरी राष्ट्रीय आर्थिक योजनाएँ तैयार करती है और उनको पूरा कराने तथा निर्धारित लक्ष्यो से भी आगे ले जाने की व्यवस्था करती है। उत्पादन के अधिकाश साधनो की स्वामिनी होने के नाते विभिन्न उद्यमो, उद्यमों के समूहों, तथा अर्थ-व्यवस्था की पूरी-पूरी शाखाओ का प्रबन्ध करने के लिए वह अपने प्रतिनिधि नियुक्त करती है। वह फैक्ट्रियों और दफ्तरों के कर्मचारियो की मज़दूरी निर्धारित करती है, राजकीय उद्योगो द्वारा पैदा किये जाने वाले समस्त विभिन्न मालो की थोक और खुदरा क़ीमतें तै करती है। कृषि उत्पादन को किस कीमत पर खरीदना है यह भी वही तै करती है। राष्ट्रीय बजट राज्य की गति-विधि की एक सर्वांगीण वित्तीय योजना होता है, समाज के सम्पूर्ण आर्थिक जीवन

के लिए उसका बहुत महत्व होता है, इसलिए उसको भी वही तैयार करती है।

समाजवादी समाज में उत्पादन का क्या लक्ष्य होता है ?

पूंजीवाद से समाजवाद में संक्रमण हो जाने पर उत्पादन का भी लक्ष्य आमूल रूप से बदल जाता है।

पूंजीपति के लिए उत्पादन का सीधा लक्ष्य मज़दूरों के श्रम का शोषण करके मुनाफे कमाना होता है। पूंजीवादी समाज मे उत्पादन केवल आखिर में ही किसी न किसी रूप में जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

मानव द्वारा मानव के शोषण की व्याधि मे मुक्त समाजवादी समाज मे उत्पादन का लक्ष्य व्यक्तियों की तिजोरियाँ भरना न होकर जन आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। समाजवाद का लक्ष्य होता है कि सामाजिक उत्पादन का निरन्तर विस्तार और सुधार करते हुए जनता की दिनोंदिन बढ़ती भौतिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं की वह अधिकाधिक मात्रा में सम्पूर्ति करे। समाजवाद का दूसरा कोई लक्ष्य नही होता, न हो ही सकता है।

इस प्रकार मुनाफ़ा कमाने के उद्देश्य से किये जाने वाले अराजकतावादी उत्पादन के स्थान पर समाजवाद एक नियोजित उत्पादन की एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना करता है जिसका उद्देश्य केवल समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।

इसके फलस्वरूप, सम्पूर्ण समाज की बढ़ती हुई जरूरतों की

लगातार पूर्ति होती जाती है— और यही समाजवाद की सबल प्रेरक शक्ति होती है। जन-जीवन के भौतिक और सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए समाजवादी समाज उद्योग-धन्धों तथा कृषि का सतत विस्तार तथा सुधार करता रहता है।

समाजवादी समाज में रहन-सहन का स्तर किस चीज पर निर्भर करता है?

उत्पादन के लक्ष्यों में परिवर्तन हो जाने से वे परिस्थितियाँ भी बुनियादी तौर से बदल जाती है जो मेहनतकश जनता के रहन-सहन के स्तर को निर्धारित करती हैं। स्वयम्-स्फूर्त ढंग से काम करके पूंजीवाद के आर्थिक नियम जनता की मूलभूत आवश्यकताओं की संतृप्ति को 'समर्थ मांग' (effective demand) की संकुचित सीमाओं में कैद कर देते हैं। अपने मुनाफे बढ़ाने के लिए पूँजीपति मजदूरियाँ घटाने की कोशिश करते हैं। इस तरह मेहनतकश जनता द्वारा किये जाने वाले उपभोग की मात्रा को वे अधिक से अधिक कम करने की चेष्टा करते हैं। यही वजह है कि पूंजीवादी समाज में मजदूर वर्ग को अपनी आर्थिक दशा में थोड़ा-सा भी सुधार कराने के लिए कटु वर्ग संघर्ष की शरण लेनी पड़ती है। इसके बिना कुछ नहीं होता।

समाजवादी समाज में जनता के जीवन में कितना सुधार होगा यह सिर्फ सामाजिक उत्पादन के स्तर, श्रम उत्पादकता की वृद्धि तथा उत्पादित मालों की मात्रा पर निर्भर करता है। समाजवादी समाज में जीवन के लिए आवश्यक तथा सुख-सुविधा की जितनी ही अधिक वस्तुएँ पैदा होती हैं जनता के रहन-सहन का स्तर उतना ही ऊँचा उठता जाता है।

समाजवादी क्रान्ति मेहनतकश जनता के रहन-सहन के स्तर में पहले तो फौरन ही काफी सुधार कर देती है। जन सरकार काम के दिन को घटा देती है और निवास-स्थान की स्थिति मे सुधार कर देती है। वह बेकारी को कम करने के लिए तेजी से कदम उठाती है और, अन्त में, उसे मिटा देती है। किसानो के लिए वह एक समृद्ध तथा सुसंस्कृत जीवन का पथ प्रशस्त कर देती है।

किन्तु समाज के समाजवादी पुनर्निर्माण के अन्तर्गत अनेक और भी काम आते हैं जिन्हे पूरा करना आवश्यक होता है। उसके लिए अर्थ-व्यवस्था को आमूल बदलना पड़ता है, सामाजिक सेवाओं का विकास करना पड़ता है, जनता के सास्कृतिक मापदण्डो को ऊँचा उठाना होता है, तथा एक नयी नैतिकता की स्थापना करनी होती है, आदि। इन्हे पूरा करने के लिए समस्त जनता के जबर्दस्त प्रयास की जरूरत होती है। जिन देशों की अर्थ-व्यवस्था पिछड़ी हुई है उनमे तो खास तौर से अत्यधिक प्रयास करना पडता है। मेहनतकश जनता के रहन-सहन के स्तर को लगातार ऊँचा उठाते जाने का एक ही रास्ता है : उत्पादक शक्तियों का तेज़ी से विकास किया जाय। इसके लिए जरूरी होता है कि उद्योग-धन्धो के क्षेत्र मे पुराने उद्यमों का विस्तार किया जाय तथा नये-नये कारोबारों का निर्माण किया जाय; कृषि तथा उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में भी ऐसा ही किया जाय; श्रम की उत्पादनशीलता मे निरन्तर वृद्धि की जाय, प्रौद्योगिक प्रगति की जाय, तथा अर्थ-व्यवस्था के सगठन को ऊपर से लेकर नीचे तक सुधारा जाय।

पूँजीवादी अर्थशास्त्री इस चीज का फायदा उठा रहे हैं कि समाजवादी देशो मे पूर्ण प्रचुरता की स्थिति अभी तक नही लायी जा सकी है। सोवियत सघ तथा दूसरे समाजवादी देशो के समाजवादी निर्माण के मार्ग मे जो कठिनाइयां रही है उनके वास्तविक कारणों पर

वे जान-बूझकर पर्दा डालना चाहते हैं। रूस तथा दूसरे समाजवादी देश अतीत काल में आर्थिक रूप से पिछड़े हुए थे। साम्राजियों ने लगातार उनके खिलाफ़ शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयाँ संगठित की हैं। इसके अलावा, भयंकर रूप से विनाशकारी ऐसे युद्धों का भी उन्हें सामना करना पड़ा है जिनकी वजह से उनकी महान भौतिक क्षति हुई है और करोड़ों लोगों की जानें गयी हैं। समाजवादी निर्माण के कार्य में जिन चीज़ों ने कठिनाइयाँ पैदा की हैं—वे यही है।

अर्थ-व्यवस्था के नियोजित तथा आनुपातिक विकास का क्या सार है ?

समाजवाद अर्थ-व्यवस्था के नियोजित प्रबन्ध की सम्भावना पैदा कर देता है; साथ ही साथ ऐसा करना वह आवश्यक भी बना देता है। उत्पादन के सामाजिक स्वरूप और उसके फल को आत्मसात् कर लेने के निजी पूँजीवादी स्वरूप के बीच जो आन्तरिक अन्तर्विरोध पूँजीवादी समाज में पाया जाता है उसे उत्पादन के साधनों का समाजीकरण मिटा देता है। समाजवादी समाज के उत्पादन का सामाजिक स्वरूप उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व के और, इसीलिए, उत्पादन के परिणामों के सर्वथा अनुकूल होता है।

उत्पादन के सामाजिक स्वरूप का अर्थ यह है कि समाज का आर्थिक जीवन एक अविच्छिन्न इकाई (*single entity*) होता है। इस इकाई के समस्त तत्व अटूट रूप से आपस में जुड़े रहते हैं। समाज के अस्तित्व के लिए आवश्यक होता है कि इन तत्वों के बीच एक निश्चित तालमेल क़ायम रहे। सबसे पहले इस चीज की आवश्यकता होती है कि कोयला और मशीनों, कपड़ों और जूतों, गल्ले और गोश्त, आदि—भिन्न-भिन्न प्रकार के मालों का—उत्पादन एक

निश्चित परिमाणात्मक व्यवस्था के अनुसार (अनुपात में) किया जाय। इसके लिए अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न शाखाओं के बीच श्रम तथा उत्पादन के साधनों का तदनुरूप विभाजन करने की जरूरत होती है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि पूंजीवाद के अन्तर्गत सामाजिक उत्पादन के अंगो तथा तत्वों के बीच आवश्यक अनुपातों की स्थापना स्वयम्-स्फूर्त ढग से, अनगिनत उतार-चढ़ावों तथा भटकावों के माध्यम से होती है। इसके परिणामस्वरूप प्रतियोगिता के दौरान तथा संकटों और वेकारी के कारण उत्पादक शक्तियों की बर्बादी होती है। पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन की अराजकता अनिवार्य है। उत्पादक शक्तियों की यह बर्बादी इसी चीज की अभिव्यक्ति है।

समाजवादी संक्रमण का यह अर्थ होता है कि समाज के हित में सम्पूर्ण आर्थिक जीवन को नियोजित, आनुपातिक विकास के रास्ते पर लगा दिया गया है। उत्पादन की अराजकता के बिना पूंजीवाद की जिस तरह कल्पना नही की जा सकती, उसी तरह सम्पूर्ण सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के नियोजित, आनुपातिक विकास के बिना समाजवाद की कल्पना नही की जा सकती। समस्त सामाजिक उत्पादन तथा वितरण की व्यवस्था को नियोजित तथा आनुपातिक आधार पर तभी संगठित किया जा सकता है जबकि अर्थ-व्यवस्था की तमाम कड़ियों के बीच सोद्देश्य ढंग से आवश्यक अनुपातों की स्थापना कर दी जाय और इन अनुपातों को कायम रखा जाय। अर्थ-व्यवस्था का नियोजित, आनुपातिक विकास समाजवाद का एक वस्तुगत (objective) आर्थिक नियम (economic law) है।

इस नियम को समझकर समाजवादी समाज आर्थिक जीवन को एक योजनाबद्ध ढग से और भी अधिक सफलतापूर्वक संगठित करता है। उसकी योजनाओं का आधार वैज्ञानिक होता है। आर्थिक मार्ग-

दर्शन के काम को निरन्तर उन्नत करने तथा नियोजन के वैज्ञानिक स्तर को ऊँचा उठाते हुए, अर्थ-व्यवस्था के नियोजित आनुपातिक विकास के नियम को और भी अच्छी तरह समझा और काबू में लाया जाता है।

समाजवादी समाज मे देश के आर्थिक जीवन का संचालन राज्य की राष्ट्रीय आर्थिक योजना के अनुसार किया जाता है। उसका लक्ष्य समाज की धन-सम्पदा मे वृद्धि करना तथा जनता के भौतिक और सांस्कृतिक स्तर को लगातार ऊँचा उठाते जाना होता है। समाजवादी देशो का पारस्परिक आर्थिक सहयोग भी नियोजित ढग का होता है। राज्य की राष्ट्रीय आर्थिक योजना के अन्तर्गत समाज के मालो के उत्पादन तथा वितरण की सम्पूर्ण व्यवस्था आ जाती है। न केवल उद्योग-धन्धे, कृषि, यातायात, निर्माण-कार्य से सम्बन्धित संगठन तथा व्यापारिक संस्थाएँ, बल्कि वैज्ञानिक संस्थाएँ और सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवम् सार्वजनिक स्वास्थ्य-सम्बन्धी संस्थान भी उसमे योजना के अनुसार काम करते है।

अर्थ-व्यवस्था के नियोजित प्रबन्ध से मानवशक्ति तथा भौतिक साधनो का सबसे लाभदायी तथा कुशल ढंग से इस्तेमाल करने मे समाज को मदद मिलती है। इस प्रबन्ध-कार्य मे समाजवादी सम्पत्ति आधार-शिला का काम करती है।

समाजवादी समाज में सामाजिक श्रम की कैसे बचत की जाती है?

अपनी अर्थ-व्यवस्था की तथाकथित "कार्य-क्षमता" पर पूँजीपति वर्ग को सदा ही बहुत अभिमान रहा है। कम से कम खर्च में अधिक

से अधिक फल निकालने के तथाकथित प्रबन्ध-सिद्धान्त के रूप मे पूजीवादी अर्थ-शास्त्रियों ने अपने एक आदर्श तक की सृष्टि कर डाली है।

किन्तु, असलियत यह है कि, उत्पादन के पूंजीवादी तरीके सबसे अधिक अपव्ययपूर्ण तथा कुप्रबन्धमय होते हैं। पूंजीपति केवल एक ही चीज मे बचत करते हैं—मजदूर वर्ग के काम करने की परिस्थितियों को सुधारने के सिलसिले में वे कम से कम खर्च करते है। इस क्षेत्र मे वे अत्यधिक किफायतशारी दिखाते हैं। किन्तु इसके साथ-साथ उत्पादन की अराजकता, प्रतियोगिता, बेकारी, संकट तथा युद्ध की जो व्याधियां पूंजीवादी समाज व्यवस्था के साथ जुड़ी रहती है उनके कारण श्रम और उसकी पैदावारो की बेहिसाब बर्बादी होती है।

पूंजीवाद की इन असाध्य व्याधियों और पापाचारों से समाजवाद मुक्त होता है; इसलिए इतिहास मे वही पहली बार उस युग का सूत्रपात करता है जिसमें श्रम तथा भौतिक साधनों का सम्पूर्ण समाज के हित मे विवेकशील ढग से उपयोग होने लगता है। समाजवादी क्रान्ति से बहुत पहले मार्क्स ने इसी अर्थ में लिखा था कि जीवित तथा भौतिकीकृत (Living and materialised) श्रम की मितव्ययता (किफायतशारी) का समाजवादी समाज मे अत्यधिक महत्व होगा। उन्होने बतलाया था कि किसी भी बचत का अन्ततोगत्वा यही अर्थ होता है। सोवियत राज्य की स्थापना होते ही—उसके प्रारम्भिक हफ्तों और महीनो मे ही लेनिन ने इस बात पर जोर दिया था कि रुपये-पैसे का हिसाब रखना सीखा जाय और जनता के हर कोपेक (छोटे सिक्के) की किफ़ायत की जाय।

रुपयों-पैसों, श्रम, तथा समस्त भौतिक खर्चों का हिसाब रखने, अधिक से अधिक किफायतशारी (मितव्ययता) बरतने, तथा हर कदम

की राष्ट्रीय आर्थिक उपयोगिता और कार्य क्षमता की ठीक-ठीक गणना करने की योग्यता प्राप्त किये बिना समाजवादी प्रबन्ध-कार्य (socialist management) की कल्पना तक नही की जा सकती। पूंजीवाद की तुलना मे एक अधिक ऊँची व्यवस्था होने के नाते समाजवाद मे जो महान अच्छाइयाँ पायी जाती है उनका फ़ायदा ऐसी ही हालतों में उठाया जा सकता है। समाजवाद केवल ऐसी ही हालतों में आर्थिक प्रगति की गति को तीव्र कर सकता है और जनता के रहन-महन के स्तर को निरन्तर ऊँचा उठा सकता है। योजनाओं को पूरा करने तथा उनके लक्ष्यो को निर्धारित सीमाओं से आगे ले जाने के लिए आवश्यक होता है कि आर्थिक निर्देशन और प्रबन्ध के तरीकों में समस्त स्तरों पर सतत सुधार किया जाय। योजनाओं के कार्यान्वियन में इस चीज़ का भारी महत्व होता है।

पूंजीवादी समाज मे अलग-अलग उद्यमो का प्रबन्ध किफ़ायतपूर्ण ढग से होता है, किन्तु पूरी अर्थ-व्यवस्था के स्तर पर उसमे जबर्दस्त बर्बादी होती है। उसकी ये दोनो विशेषताएं पूंजीवाद के आर्थिक नियमों का परिणाम है। पूंजीवादी व्यवस्था वास्तव मे पूंजीपतियो के लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करने वाली व्यवस्था है। किसी भी अलहदा उद्यम के अन्दर किफायत करने के जितने भी तरीके इस्तेमाल किये जाते हैं वे सब मूल्य के नियम की स्वयम्-स्फूर्त गतिशीलता (Spontaneous operation) पर आधारित होते हैं। मूल्य का यह नियम समाज मे सब दूसरो के खिलाफ सबोंके एक सघर्ष के रूप मे, एक सत्यानाशी प्रतियोगिता के रूप मे कार्य करता है। इस प्रतियोगिता और सघर्ष मे ताक़तवर कमज़ोरों को कुचल देते है और उनका गला घोट देते हैं।

मूल्य का नियम समाजवादी समाज में कैसे काम करता है ?

समाज का कोई भी रूप क्यों न हो, समाज की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति की खातिर उसमे किये जानेवाले मालों के उत्पादन के लिए सामाजिक श्रम की निश्चित मात्राओं की आवश्यकता होती है। सामाजिक श्रम का निश्चित अनुपातों मे बँटवारा करने की इस आवश्यकता का किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत अन्त नही किया जा सकता। समाज के पास जो श्रम-काल (labour time) होता है उसे उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच निश्चित अनुपातों मे विभाजित करने की आवश्यकता को समाज का कोई भी रूप तिलांजलि नही दे सकता।

यह आर्थिक नियम जिसके अनुसार समाज के श्रम को समाज की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन के क्षेत्रों मे आनुपातिक रूप से वितरण करना आवश्यक होता है—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे भी पूरे तौर से काम करता है। पूंजीवादी समाज में यह नियम मूल्य के अन्धे स्वयम्-स्फूर्त नियम के रूप में काम करता है। समाजवादी समाज मे यह एक नियन्त्रित शक्ति बन जाता है, किन्तु इसका रूप एक वस्तुगत आर्थिक नियम का ही बना रहता है। प्रत्येक उद्यम तथा सम्पूर्ण उद्योग-धन्धो, क्षेत्रों, एवम् राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के स्तर पर श्रम की बचत करने के सिद्धान्त पर अमल करने के लिए जिस बडी चीज की आवश्यकता होती है वह यह है कि अर्थ-व्यवस्था के नियोजित प्रबन्ध-कार्य के दौरान मूल्य के नियम को अच्छी तरह समझ लिया जाय।

कम से कम लागत से समाज के हित मे अधिक से अधिक फल

की राष्ट्रीय आर्थिक उपयोगिता और कार्य क्षमता की ठीक-ठीक गणना करने की योग्यता प्राप्त किये बिना समाजवादी प्रबन्ध-कार्य (socialist management) की कल्पना तक नहीं की जा सकती। पूँजीवाद की तुलना मे एक अधिक ऊँची व्यवस्था होने के नाते समाजवाद मे जो महान अच्छाइयाँ पायी जाती है उनका फ़ायदा ऐसी ही हालतों में उठाया जा सकता है। समाजवाद केवल ऐसी ही हालतों में आर्थिक प्रगति की गति को तीव्र कर सकता है और जनता के रहन-सहन के स्तर को निरन्तर ऊँचा उठा सकता है। योजनाओं को पूरा करने तथा उनके लक्ष्यों को निर्धारित सीमाओं से आगे ले जाने के लिए आवश्यक होता है कि आर्थिक निर्देशन और प्रबन्ध के तरीकों मे समस्त स्तरों पर सतत सुधार किया जाय। योजनाओं के कार्यान्वियन मे इस चीज़ का भारी महत्व होता है।

पूँजीवादी समाज मे अलग-अलग उद्यमों का प्रबन्ध किफायतपूर्ण ढग से होता है, किन्तु पूरी अर्थ-व्यवस्था के स्तर पर उसमे ज़बर्दस्त बर्बादी होती है। उसकी ये दोनो विशेषताएँ पूँजीवाद के आर्थिक नियमों का परिणाम हैं। पूँजीवादी व्यवस्था वास्तव मे पूँजीपतियो के लिए अतिरिक्त मूल्य पैदा करने वाली व्यवस्था है। किसी भी अलहदा उद्यम के अन्दर किफ़ायत करने के जितने भी तरीके इस्तेमाल किये जाते है वे सब मूल्य के नियम की स्वयम्-स्फूर्त गतिशीलता *(Spontaneous operation)* पर आधारित होते हैं। मूल्य का यह नियम समाज में सब दूसरो के खिलाफ सबोके एक संघर्ष के रूप मे, एक सत्यानाशी प्रतियोगिता के रूप में कार्य करता है। इस प्रतियोगिता और सघर्ष मे ताकतवर कमज़ोरो को कुचल देते है और उनका गला घोट देते हैं।

मूल्य का नियम समाजवादी समाज में कैसे काम करता है ?

समाज का कोई भी रूप क्यों न हो, समाज की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति की खातिर उसमें किये जानेवाले मालों के उत्पादन के लिए सामाजिक श्रम की निश्चित मात्राओं की आवश्यकता होती है। सामाजिक श्रम का निश्चित अनुपातों में बँटवारा करने की इस आवश्यकता का किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत अन्त नहीं किया जा सकता। समाज के पास जो श्रम-काल (labour time) होता है उसे उत्पादन की विभिन्न शाखाओं के बीच निश्चित अनुपातों में विभाजित करने की आवश्यकता को समाज का कोई भी रूप तिलांजलि नहीं दे सकता।

यह आर्थिक नियम जिसके अनुसार समाज के श्रम को समाज की विभिन्न आवश्यकताओं के अनुसार उत्पादन के क्षेत्रों में आनुपातिक रूप से वितरण करना आवश्यक होता है—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी पूरे तौर से काम करता है। पूँजीवादी समाज में यह नियम मूल्य के अन्धे स्वयम्-स्फूर्त नियम के रूप में काम करता है। समाजवादी समाज में यह एक नियन्त्रित शक्ति बन जाता है, किन्तु इसका रूप एक वस्तुगत आर्थिक नियम का ही बना रहता है। प्रत्येक उद्यम तथा सम्पूर्ण उद्योग-धन्धों, क्षेत्रों, एवम् राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के स्तर पर श्रम की बचत करने के सिद्धान्त पर अमल करने के लिए जिस बड़ी चीज की आवश्यकता होती है वह यह है कि अर्थ-व्यवस्था के नियोजित प्रबन्ध-कार्य के दौरान मूल्य के नियम को अच्छी तरह समझ लिया जाय।

कम से कम लागत से समाज के हित में अधिक से अधिक फल

हासिल करना—समाजवादी आर्थिक व्यवस्था का यह एक अपरिहार्य नियम है। इसी की वजह से आवश्यक होता है कि उत्पादन की लागतों और उनके फलों के बीच एक उचित अनुपात कायम किया जाय। दोनों की तुलना करते रहने का काम समाजवादी प्रबन्ध के अनेक तरीकों से किया जाता है। ये तरीके मूल्य के नियम के इस्तेमाल पर आधारित होते हैं। उत्पादन खर्च, क़ीमत, मुद्रा, मजदूरी, आदि जैसी मूल्य-श्रेणियों (value categories) के बिना समाजवादी उद्यमों की कल्पना नहीं की जा सकती।

कुप्रबन्ध, फिजूलखर्ची तथा अनावश्यक लागतों के खिलाफ संघर्ष में प्रबन्ध के समाजवादी तरीकों का उपयोग किया जाता है। समाजवाद के आर्थिक नियमों के ज्ञान के आधार पर समाजवादी राज्य समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की महान् श्रेष्ठताओं का अधिक से अधिक फ़ायदा उठाने की कोशिश करता है जिससे कि जनता को जिस भौतिक और सांस्कृतिक सम्पदा की आवश्यकता है उसकी वृद्धि की जा सके।

समाजवाद श्रम की सामाजिक स्थिति को कैसे बदलता है?

सामाजिक जीवन में समाजवाद जो आमूल रूपान्तरण कर देता है उसकी वजह से समाज के अन्दर श्रम की स्थिति तथा काम के सम्बन्ध में लोगों के विचार दोनों ही बदल जाते हैं। समाजवादी समाज में श्रम जोर-जबर्दस्ती से लादा गया कोई भारी बोझ नहीं रह गया है। वह मुक्त श्रम बन गया है। उसके तमाम फलों का उपभोग एक ऐसा समाज करता है जिसमें मुक्त श्रमजीवी रहते हैं।

श्रम ही मनुष्य को महान बनाता है। अपनी सामाजिक व्यवस्था की

आधार-शिला इस सत्य को सबसे पहले समाजवाद ने ही बनाया है। दूसरी तरफ़, शोषक वर्गों का श्रम की तरफ भी वही पाखण्डी रुख होता है जो धर्म की तरफ होता है। पूंजीवादी विचारधारा दूसरों को तो उपदेश देती है कि श्रम अत्यन्त उपयोगी चीज है; किन्तु, जहाँ तक स्वयम् पूंजीपतियों का सवाल है, वे काहिली में ही मजे करते रहना पसन्द करते है।

समाजवादी समाज मे श्रम ही मानवीय सम्बन्धों का आधार बन गया है। उसे उसमे सम्मान का स्थान प्राप्त है। उसकी सबसे अधिक सामाजिक प्रशंसा की जाती है। समाज मे मनुष्य को क्या स्थान और कैसा सम्मान मिलता है—यह चीज उसके श्रम के आधार पर, समाज के हित मे की जाने वाली उसकी निजी सेवाओं के आधार पर तै होती है।

मेहनतकश जनता को समाजवाद इस योग्य बनाता है कि काम के अपने अधिकार का वह इस्तेमाल कर सके। एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना करने के न जाने कितनी पीढ़ियों के युगों-पुराने इस स्वप्न को इतिहास मे पहली बार उसने साकार कर दिया है जिसमे न बेकारी हो, न कल के सम्बन्ध मे जान-लेवा चिन्ता, और न ग़रीबी तथा भुखमरी की फिक्र जैसी बेकारी के कारण पैदा होने वाली दूसरी तमाम मुसीबतें।

बेकारी तथा उन आर्थिक संकटों का समाजवाद ने अन्त कर दिया है जिनकी वजह से पूंजीवादी समाज मे थोड़े-थोड़े समय बाद श्रम की उत्पत्तियों की विशाल राशियाँ तथा अकूल सम्पदा नष्ट हो जाती है। आर्थिक संकटों की यह महाव्याधि पूंजीवादी व्यवस्था के साथ उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक जुड़ी रहती है। इस असंगति को नियोजित समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत सदा के लिए समाप्त कर दिया

गया है। समाजवादी समाज में नयी पीढ़ी जीवन के क्षेत्र में सविश्वास प्रवेश करती है। उसे कल का डर नहीं सताता, न उसे इस बात का भय रहता है कि उसे जगह नहीं मिलेगी, वह "अनावश्यक" है।

समाजवाद ने भौतिक और मानसिक श्रम के उस विरोध को मिटा दिया है जो दास-प्रथा तथा सामन्ती प्रथा में पाया जाता था और जो पूंजीवादी व्यवस्था में आज भी मौजूद है। हाथ के श्रम तथा मस्तिष्क के श्रम के बीच का विरोध शोषक व्यवस्था का एक भारी दुर्गुण है। वह आम जन समुदायों को ज्ञान के स्रोतों से दूर रखता है।

समाजवादी समाज में अधिकारों और कर्तव्यों का प्रत्यक्ष और और घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पूंजीवादी समाज व्यवस्था में सारे अधिकारों का उपभोग तो शोषकों का एक छोटा-सा ऊपरी वर्ग करता है, किन्तु अधिकाश कर्तव्यों का भार पड़ता है अधिकार-हीन शोषित बहुमत के सिर पर। समाजवाद ने अधिकारों और कर्तव्यों की इस खाई को पाट दिया है।

लोगों के श्रम सम्बन्धी विचार कैसे बदलते हैं?

साम्यवाद (कम्युनिज़्म) की ही तरह समाजवाद की भी आधार-शिला श्रम है। उसका सिद्धांत है कि : "हर आदमी अपनी क्षमता के अनुसार काम करे, और हर व्यक्ति को उसके काम के अनुसार उजरत मिले।" साम्यवादी (कम्युनिस्ट) समाज में इसकी जगह एक दूसरे सिद्धान्त की स्थापना हो जायगी। वह सिद्धान्त यह होगा : "हर व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करे, और हर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समाज से ले ले।"

श्रम की तरफ एक नया समाजवादी दृष्टिकोण पैदा करना एक जटिल काम है जिसके लिए अनथक प्रयास करना पड़ता है। मौलिक सामाजिक रूपान्तरण न केवल लोगों के रहन-सहन की परिस्थितियों को, बल्कि उनके सोचने-विचारने के ढग को भी बदल देते है। शोषकों के हित मे सदियों तक की गयी बेगार या जोर-जबर्दस्ती से कराये गये काम के फलस्वरूप पैदा होने वाली पुरानी मनोवृत्ति और पुरानी आदतें समाप्त हो जाती हैं और उनके स्थान पर एक नयी, समाजवादी चेतना का उदय होता है, नागरिक कर्तव्यों की ओर–और सर्वप्रथम श्रम की ओर—एक नये, समाजवादी दृष्टिकोण का जन्म होता है।

समाजवादी समाज मे श्रम की तरफ़ एक नये दृष्टिकोण को, समाज का स्वामी होने के दृष्टिकोण को मेहनतकशो के बीच बढावा दिया जाता है और यह अधिकाधिक मजबूत होता जाता है। जब तक पूंजीवाद कायम है तब तक यह दृष्टिकोण कभी नही पैदा हो सकता। इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप, उत्पादन को लोग स्वयम् अपने बुनियादी हित की चीज समझने लगते हैं। प्रत्येक ईमानदार कर्मक (workman) समाज को अधिक से अधिक देने का प्रयास करता है। उत्पादन की तरफ़ मित-व्ययता का मालिक जैसा दृष्टिकोण उसमें पैदा हो जाता है। इसकी वजह से प्रत्येक मजदूर इस बात का ध्यान रखने लगता है कि प्रबन्ध का काम बुद्धि-संगत ढंग से किया जाय और कम से कम लागतो से अधिक से अधिक फल प्राप्त किये जायं।

फलस्वरूप, श्रम के सम्बन्ध मे लोगों के विचार बुनियादी तौर से बदल जाते है। समाजवादी समाज के सदस्य श्रम को अपना प्रमुख सामाजिक कर्तव्य समझने लगते है। "जो काम नही करता, उसे खाने को भी नही मिलेगा"—अनुपार्जित आय, काहिली, तथा परजीवीवाद के आधार पर जीवन-यापन करने के समस्त स्वरूपो का अन्त करने के

महान विचार को इन्हीं शब्दों मे व्यक्त किया गया है। श्रम की सर्वसामान्यता (universality) तथा उसकी अनिवार्य-स्वरूपता (obligatory nature) के समाजवादी सिद्धान्त भी इन्हीं शब्दो मे निहित है।

क्या काम करने के उत्साह को समाजवाद खत्म कर देता है ?

अनेक दशकों से शोषक व्यवस्था के प्रचारक कहते आ रहे हैं कि समाजवाद आ जायगा तो सब लोग आलसी और निठल्ले हो जायेंगे। वे फर्माते है कि निजी सम्पत्ति खत्म हो जायगी तो लोगों की काम करने की प्रेरणा खत्म हो जायगी और वे काम करना बन्द कर देंगे।

पूंजीवाद के सिद्धान्तकारों ने "आर्थिक क्रियाशीलता की प्रेरणाओ" के सम्बन्ध में अनेक "विद्वतापूर्ण निबन्ध" लिखे है। उनका स्पष्ट उद्देश्य यह साबित करना है कि समाजवाद के अन्तर्गत ऐसी कोई प्रेरणाएँ नही हो सकती, क्योंकि किसी दूसरे के श्रम का शोषण करके रुपया कमाने की सम्भावनाओ को उसमे खत्म कर दिया जाता है! उन्होंने एक चीज को बड़े ढंग से छिपाकर रखने की कोशिश की है। वह चीज यह है कि निजी सम्पत्ति के आधिपत्य की व्यवस्था के अन्तर्गत जनता का विशाल बहुमत सम्पत्तिविहीन श्रमजीवी होता है और शोषकों के केवल एक नगण्य गिरोह को ही धनाढ्य बनने का मौका मिल पाता है!

लोगों से काम कराने का, उत्पादन की क्रियाशीलता में उन्हें लगाने का प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का अपना अलग तरीका होता है। दास-प्रथा तथा सामन्त-प्रथा के अन्तर्गत मेहनतकश जनता को

शोषकों के हित में काम करने के लिए जोर जबर्दस्ती से बाध्य किया जाता था। पूंजीवाद के अन्तर्गत भूखों मारने की धमकी देकर उनसे काम कराया जाता है। लोगों से काम कराने के पूंजीवादी तरीके को—उस तरीके को जिसके अन्तर्गत बहुमत के सिर पर तो हमेशा भुखमरी की तलवार लटकती रहती है और अल्पमत को मुनाफे कमाने की पूरी छूट होती है, समाजवाद ने समाप्त कर दिया है। शोषण का उन्मूलन हो जाने से वे परिस्थितियां और तरीके भी बुनियादी तौर से बदल जाते हैं जिनके माध्यम से लोगों को काम की ओर आकर्षित किया जाता है। साथ ही साथ, इतिहास के वस्तुगत क्रम का तकाजा होता है कि लोगों के काम में लगाने के नये-नये तथा अज्ञात तरीके ढूंढे जायँ।

सोवियत संघ मे समाजवाद का निर्माण-कार्य चलते ४५ से अधिक वर्ष बीत चुके हैं। दूसरे समाजवादी देशों में भी नये समाज की रचना का कार्य शुरू हुए २० वर्ष गुजर गये है। इस दौरान दुनिया ने अच्छी तरह देख लिया है कि इसके बजाय कि पूंजीवाद के विनाश के बाद समाज मे सार्वत्रिक तद्रिलता तथा कार्य-विमुखता छा जाय, लोगों के अन्दर इन देशों में काम करने का ऐसा जोशो-खरोश पैदा हो गया है जिसकी शोषण पर आधारित किसी समाज में कल्पना तक नहीं की जा सकती थी।

लोगों से काम कराने के पूंजीवाद ने शताब्दियों तक स्वयम् अपने उपाय और तरीके निकाले हैं और उनका इस्तेमाल किया है। वास्तव में, श्रमजीवी मजदूरों से अधिक काम कराने के भिन्न-भिन्न और छल-पूर्ण तरीके सम्भवतः हमारे इस युग में भी पूंजीवाद निकालता और विकसित करता जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि समाजवाद के अन्तर्गत लोगों को काम की ओर आकर्षित करने के नये तरीकों का

मानव द्वारा मानव के शोषण से विमुक्त हो चुकी है। साथ ही साथ, व्यक्तिगत मजदूरो तथा उनके सम्पूर्ण समुदायो के लिए यह सिद्धान्त एक भौतिक प्रोत्साहन (material incentive) का भी काम करता है, क्योकि उनकी भौतिक खुशहाली फिर उनके द्वारा किये जाने वाले काम की मात्रा और गुण तथा उससे प्राप्त होने वाले फलो पर ही निर्भर करती है।

समाजवादी समाज मे सामाजिक उत्पत्ति का वह अश जो मेहनतकश जनता के निजी इस्तेमाल मे लगता है, अर्थात् जो अश आवश्यक श्रम की उत्पत्ति होता है, उसका वितरण प्रत्येक मजदूर द्वारा किये गये श्रम के परिमाण तथा गुण के अनुसार होता है।

सोवियत सघ तथा अन्य समाजवादी देशों का अनुभव बतलाता है कि काम के अनुसार वितरण करने के आर्थिक नियम तथा प्रत्येक मजदूर को उसकी मेहनत की मात्रा और गुण (क्वालिटी) के अनुसार पारिश्रमिक देने के सिद्धान्त का अधिक से अधिक इस्तेमाल ही समाजवादी समाज की प्रगति मे प्रेरक-शक्ति का काम करता है। जो लोग अच्छी तरह काम करते है उनको भौतिक प्रोत्साहन देने से न सिर्फ आगे बढ़े लोगों को और भी आगे बढ़ते जाने की निरन्तर प्रेरणा मिलती है, बल्कि मजदूरों के सम्पूर्ण समुदाय को नेतृत्वकारी मजदूरों के स्तर तक ऊपर उठाने मे भी सहायता प्राप्त होती है।

काम के अनुसार वितरण की व्यवस्था एक ऐसी सबल शक्ति है जिससे समाज की उत्पादक शक्तियों को उन्नत करने तथा जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने में भारी मदद मिलती है। काम के अनुसार उजरत मिलने से उत्पादन के सम्बन्ध मे आदमी के अन्दर दिलचस्पी और फ़िक्र पैदा होती है, अध्ययन करने तथा अपनी कार्यकुशलता बढाने की ख्वाहिश उसके अन्दर पैदा होती है। काम के

अनुसार वितरण की व्यवस्था से काम के सम्बन्ध में एक नये, सचेत, समाजवादी अनुशासन तथा सामूहिकता की भावना पैदा होती है, उससे पारस्परिक सहायता तथा सहयोग के भ्रातृत्व-पूर्ण सम्बन्ध मजबूत बनते हैं। ये सम्बन्ध समाजवादी उत्पादन-सम्बन्धों की अपनी खास विशेषता होते हैं।

समाजवादी समाज में व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में कैसे मेल क़ायम किया जाता है ?

समाजवाद के अन्तर्गत व्यक्तिगत और सामाजिक हितों के बीच पूर्ण सामञ्जस्य रहता है।

निजी स्वार्थों के सम्बन्ध में अपनी व्यग्रता पर पर्दा डालने के लिए पूंजीपति वर्ग "समाज-कल्याण" आदि की खूब पाखण्डपूर्ण बातें बनाते हैं। अनेक देशों में वहाँ की बड़ी-बड़ी इजारेदारियाँ लगातार इस बात का विज्ञापन करती हैं कि जो कुछ "हमारे निगम के लिए अच्छा है वही जनता के लिए भी अच्छा है।" किन्तु वास्तविक जीवन में इसका उल्टा ही सच होता है : किसी इजारेदार के लिए अगर भारी मुनाफे अच्छे होते हैं, तो जनता के लिए यह अच्छा होता है कि उन्हें कम कर दिया जाय। इसके फलस्वरूप या तो मजदूरों की मजदूरी बढ़ जायगी, या मालों की कीमतें घट जायँगी जिससे उपभोक्ताओं का फ़ायदा होगा। सोचने की बात है कि मुट्ठीभर पूंजीपतियों के लगातार मालामाल होते जाने और विशाल जन-समुदायों के जीवनों के अधिकाधिक मात्रा में अरक्षित होते जाने से, संकटों और उनके फलस्वरूप होने वाले उत्पादक शक्तियों के मूर्खतापूर्ण विध्वंस से, तथा निठल्लेपन, बेशुमार तकलीफों और गरीबी का जीवन बिताने के लिए दसियों

लाखों लोगों को मजबूर कर देने वाली बेकारी से भला "आम लोगों" का क्या "फ़ायदा" हो सकता है !

पूंजीपति वर्ग की सत्ता जब तक कायम है तब तक "सामाजिक कल्याण", आदि-आदि के भले-भले और सुहावने लगने वाले शब्द केवल उसके सकुचित वर्गीय, स्वार्थ-पूर्ण हितों पर पर्दा डालने के साधनों का ही काम करते है ।

व्यक्तिगत और सामाजिक हितों के बीच जो खाई है उसे पूंजीवादी शोषण का उन्मूलन करके ही पाटा जा सकता है । समाजवादी समाज-व्यवस्था मे सामाजिक हित ही समाज का हित होता है—उस समाज का जो शोषण से मुक्त मेहनतकश लोगों के सामूहिक सघ का प्रतिनिधि होता है । समाजवादी समाज मे व्यक्ति और सामूहिक समाज के हितो के बीच कोई भी असन्वेय भेद नही रह जाते, और न रह ही सकते है ।

समाजवाद के अन्तर्गत, प्रत्येक मजदूर की खुशहाली सीधे-सीधे उसकी उस मेहनत पर निर्भर करती है जो वह समाज के लिए करता है । जितना ही अधिक और बेहतर काम वह करता है, उतना ही अधिक उसे पारिश्रमिक मिलता है । साथ ही साथ, समाज की सम्पदा मे जितनी तेजी से वृद्धि होती है उतना ही बड़ा हिस्सा प्रत्येक श्रमजीवी को मजदूरी तथा सार्वजनिक कोश से प्राप्त होने वाले विभिन्न लाभो, सुविधाओ और अनुदानों के रूप मे प्राप्त होता है (नि.शुल्क शिक्षा तथा स्वास्थ्य-सेवा, सामाजिक बीमे की सुविधाएँ, मजदूरो तथा सामूहिक फार्मो के किसानो को पेंशनें, आदि चीजें इन्ही फायदो और सुविधाओं की श्रेणी मे आती हैं) । इसलिए प्रत्येक मजदूर द्वारा अपने कर्तव्य का सचेत रूप से पालन किये जाने तथा सामाजिक हितो के

अनुसार काम करने से सामाजिक उत्पादन में भाग लेनेवाले समस्त लोगो की खुशहाली के लिए आवश्यक पूर्व-परिस्थितियां पैदा हो जाती है।

व्यक्तिगत और सामाजिक हितो के बीच समन्वय क़ायम करने के नाना स्वरूप तथा उपाय समाजवाद ने ढूंढ़ निकाले है। सामाजिक हित भी अब जनता के जीवन का अभिन्न अंग बन गये है। व्यक्तिगत और सामाजिक हितो के बीच समन्वय स्थापित करने के इन उपायो की सक्षमता की सोवियत सघ तथा दूसरे समाजवादी देशो में नये समाज के निर्माण के लिए किये जाने वाले अनुभव ने पूरी पुष्टि की है।

काम करने की भौतिक और नैतिक प्रेरणाओं को समाजवाद एक साथ कैसे जोड़ता है ?

अपने श्रम के फल में हर मजदूर की जो भौतिक दिलचस्पी होती है उसे उस महान नैतिक प्रेरणा के विरुद्ध या मुकाबले मे रखना सर्वथा गलत होगा जो समाजवादी समाज में काम करने के लिए लोगों को अनुप्राणित करती है। वास्तव मे, बात बिल्कुल उल्टी है। समाजवादी समाज में भौतिक तथा नैतिक दोनो ही प्रकार की प्रेरणाएँ लोगों को काम करने के लिए प्रोत्साहित करती है और ये प्रेरणाएँ एक दूसरे की कमी की पूर्ति करती हैं और एक दूसरे को बल पहुँचाती हैं।

काम करने की नैतिक प्रेरणा का स्रोत क्या है—यह चीज सोवियत संघ तथा दूसरे समाजवादी देशों के अनुभव से स्पष्ट हो जाती है। उसका स्रोत वह बुनियादी परिवर्तन होना है जो समाजवाद के मार्ग पर अग्रसर समाज मे श्रम की हैसियत मे हो जाता है। समाज

में मज़दूर की नयी हैसियत उत्पादन-कार्य की ओर उसके अन्दर एक नया दृष्टिकोण पैदा कर देती है; यह दृष्टिकोण उस मालिक के दृष्टिकोण की तरह होता है जिसको इस बात में दिलचस्पी होती है कि श्रम की उत्पादिता बढ़े और जो इस बात की कोशिश करता है कि काम और अच्छी तरह से तथा और अधिक दक्षता के साथ हो।

उत्पादन के ये समाजवादी सम्बन्ध मेहनतकश जनता के रचनात्मक प्रयासों तथा उसकी शक्तियों को जागृत तथा प्रोत्साहित करते हैं। वे उसकी प्रतिभा तथा क्षमताओं को विकसित करते है। समाजवादी देशो मे करोडो लोगो के अन्दर काम तथा उत्पादन के सम्बन्ध मे सच्चे स्वामित्व की भावना पैदा होती जा रही है। मेहनतकशो के विशाल जन समुदायो में उत्साहपूर्वक अनुकरण करने की भावना गहरी होती जा रही है। यह भावना उत्पादन का विकास करने मे एक बलशाली शक्ति का काम करती है। उदाहरण की प्रेरक-शक्ति के फलस्वरूप काम करने के सबसे अच्छे तरीको का तेज़ी से प्रचार हो जाता है। उसकी वजह से पिछडे हुए मज़दूर बढे हुए मज़दूरो के स्तर पर पहुँच जाते है। सामूहिक रूप से और व्यक्तिगत रूप से मज़दूर अनेक चीज़ों के सम्बन्ध में सोत्साह एक दूसरे का अनुकरण करने का प्रयास करते हैं: वे श्रम की उत्पादिता को बढ़ाने तथा उत्पादन की लागत को घटाने के कार्य में एक दूसरे का अनुकरण करते है, वे क्वालिटी को सुधारने, कच्चे मालों, ईंधन तथा विद्युत-शक्ति के खर्च मे किफ़ायत करने, और उत्पादन के लिए प्राप्त स्थान तथा साजो-सामान का अधिक अच्छी तरह इस्तेमाल करने के सिलसिले में भी एक दूसरे का अनुकरण करते हैं। उत्पादन के सम्बन्ध मे मज़दूरो के अपनेपन के दृष्टिकोण का पता उन अनगिनत प्रस्तावों और सुझावों के रूप मे मिलता है जो उत्पादन को सुधारने तथा श्रम की उत्पादिता को बढ़ाने के लिए उनकी तरफ़ से लगातार आते रहते हैं।

समाजवादी समाज में काम सम्बन्धी भौतिक तथा नैतिक प्रेरणाओं के दर्म्यान अटूट एकता होती है और वे एक दूसरे की सहायता करती हैं। उनका यह सामञ्जस्य समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की अपनी खास विशेषता है।

समाजवाद के अन्तर्गत श्रम-उत्पादिता की वृद्धि का क्या महत्व है?

श्रम के समाजवादी संगठन का लक्ष्य यह होता है कि श्रम की उत्पादिता को इतना बढ़ा दिया जाय कि पूंजीवादी समाज के श्रम की उत्पादिता से वह अधिक हो जाय। अन्ततोगत्वा, कोई भी प्रगतिशील सामाजिक व्यवस्था किसी जीर्ण-शीर्ण सामाजिक व्यवस्था के ऊपर अपने श्रम की उच्चतर उत्पादिता के आधार पर ही विजयी होती है। पूँजीवाद ने श्रम की उत्पादिता जितनी बढ़ा ली है वह सामन्तवाद की पहुँच से परे थी। अब समाजवाद श्रम की उत्पादिता को पूंजीवादी समाज की श्रम-उत्पादिता से भी अधिक बढ़ा रहा है। उत्पादक शक्तियों के सामाजिक बन्धनों के तोड़ दिये जाने के फलस्वरूप ही यह चीज सम्भव हो सकी है—इससे पूर्व उत्पादन की ये शक्तियाँ शोषण की शृंखलाओं में जकड़ी हुई थीं। दूसरे, यह चीज सम्भव हुई है मेहनतकश जनता की सृजनात्मक पहलकदमी तथा उसके अनथक प्रयासों के फलस्वरूप।

श्रम की उत्पादिता में वृद्धि हो जाने से पैदावार की प्रत्येक इकाई में लगनेवाले (जीवित तथा भौतिक वस्तुओं के रूप में) श्रम की कुल मात्रा घट जाती है। श्रम की उत्पादिता बढ़ाने के लिए हाथ से काम करने वाले मजदूरों के स्थान पर मशीनें लगा दी जाती हैं और जीर्ण-

जीर्ण मशीनों तथा साजो-सामान को बदलकर उनके स्थान पर नयी मशीनें और नया साजो-सामान लगा दिया जाता है।

साथ ही साथ, श्रम-उत्पादिता को बढ़ाने के लिए यह भी जरूरी होता है कि श्रम तथा उत्पादन का अधिक अच्छी तरह संगठन किया जाय। इसके लिए आवश्यक होता है कि मजदूरों मे अधिक अनुशासन हो, काम करने की उनकी कुशलता तथा क्षमता अधिक बढ़े, और श्रम का सगठन भी अधिक अच्छा हो। इनके अलावा, प्राविधिक प्रगति भी जरूरी होती है।

पूंजीवादी समाज मे श्रम-उत्पादिता की वृद्धि का मतलब वास्तव मे मेहनतकश जनता का और अधिक शोषण होता है। पूंजीवादी उत्पादन की अराजकता, उसमे चलने वाली प्रतिद्वन्द्विता, उसके संकटों तथा उसके अन्तर्गत फैली बेकारी, आदि के फलस्वरूप सामाजिक सम्पदा, जीवित श्रम-शक्ति और सामाजिक श्रम की उत्पादिता की भारी निरर्थक बर्बादी होती रहती है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का तभी विकास हो सकता है जबकि देश की सम्पूर्ण जनता उत्पादन की समस्त शाखाओं मे श्रम-उत्पादिता बढाने का निरन्तर प्रयास करे। श्रम की बढती हुई उत्पादिता ही समाजवादी समाज की निरन्तर बढ़ती धन-सम्पदा का मूलाधार होती है।

समाजवादी समाज को प्रौद्योगिक प्रगति मे किन चीज़ों से मदद मिलती है ?

समाजवादी समाज मे प्रौद्योगिकी के विकास की असीमित तथा पूर्णतम गुजाइश रहती है। समाजवादी समाज मे मशीनो के प्रयोग से किसी प्रकार के अन्तर्विरोध नही पैदा होते और न वे सीमाएँ और बाधाएँ ही रास्ता छेंके बैठी रहती है जो पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का अभिशाप होती है।

पूंजीवादी व्यवस्था का ज़बर्दस्त बेतुकापन इस चीज़ में देखने को मिलता है कि सशक्त मशीनो, अर्थात् मानवी मस्तिष्क और प्रतिभा की इन अद्भुत उत्पत्तियो को वह मेहनतकश जनता के उत्पीडन का अस्त्र बना देती है; उनका इस्तेमाल वह श्रम का बोझ बढाने तथा श्रमजीवी जन समुदायों के जीवनों की असुरक्षा की स्थिति मे वृद्धि करने के लिए करती है।

पूंजीवादी समाज के तमाम प्रवक्ता, राजनीतिज्ञ और इजारेदार, समाजशास्त्री और पत्रकार, दार्शनिक और ट्रेड यूनियन नेता, सबके सब, भिन्न-भिन्न रूपों मे एक ही चीज कहते हैं: "प्रौद्योगिकी के साथ हमारा ज़बर्दस्त टकराव है, ऐसा टकराव जिसे खत्म नही किया जा सकता।"

प्रौद्योगिकी के साथ पूंजीवाद का यह संघर्ष ऐतिहासिक रूप से नज़दीक आते हुए उसके विनाश का प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रौद्योगिकी की प्रगति ही वह चीज है जो प्रकृति के ऊपर मानव-शक्ति के आधिपत्य का विस्तार करती है और स्वयम्-स्फूर्त शक्तियों के हाथ का महज एक खिलौना बना रहने के बजाय मानव को संसार का शासक और नियंता बना देती है। किन्तु प्रकृति पर मानवी सत्ता का विस्तार करने के मार्ग में पूंजीवादी सम्बन्ध आड़े आते है। पूंजीवादी सम्बन्धों का यह रोड़ा वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक प्रगति की रफ़्तार को धीमा कर देता है।

जैसा कि मार्क्स ने कहा था, पूंजीवादी समाज में मशीन श्रम की उत्पादिता बढ़ाने तथा अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का साधन होती है। पूजीवाद के अन्त के साथ-साथ प्रौद्योगिकी की दोहरी, अत्यन्त परस्पर-विरोधी यह भूमिका भी समाप्त हो जाती है। समाजवाद प्रौद्योगिकी को पूजीवादी वेडियों से मुक्त कर देता है और, इस प्रकार, उसके विकास के लिये निस्सीम सम्भावनाओं के द्वार उन्मुक्त कर देता है। पहली बार, मनुष्य को गुलाम बनाने वाली एक आसुरी शक्ति से बदलकर प्रौद्योगिकी उसके उद्धार तथा प्रगति की एक सबल शक्ति बन जाती है। अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का साधन बनी रहने के बजाय, समाजवादी समाज में मशीन जनता की भलाई और समृद्धि में वृद्धि करने का साधन बन जाती है।

समाजवादी समाज व्यवस्था में प्रौद्योगिक प्रगति का क्या फल होता है?

पूंजीवादी समाज में प्रौद्योगिक प्रगति तथा श्रम-उत्पादिता की वृद्धि से केवल शोषकों के मुनाफ़े बढ़ते हैं। समाजवादी समाज

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का तभी विकास हो सकता है जबकि देश की सम्पूर्ण जनता उत्पादन की समस्त शाखाओं में श्रम-उत्पादिता बढ़ाने का निरन्तर प्रयास करे। श्रम की बढ़ती हुई उत्पादिता ही समाजवादी समाज की निरन्तर बढ़ती धन-सम्पदा का मूलाधार होती है।

समाजवादी समाज की प्रौद्योगिक प्रगति में किन चीज़ों से मदद मिलती है ?

समाजवादी समाज में प्रौद्योगिकी के विकास की असीमित तथा पूर्णतम गुंजाइश रहती है। समाजवादी समाज में मशीनों के प्रयोग से किसी प्रकार के अन्तर्विरोध नहीं पैदा होते और न वे सीमाएँ और बाधाएँ ही रास्ता छेंके बैठी रहती हैं जो पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का अभिशाप होती है।

पूंजीवादी व्यवस्था का ज़बर्दस्त बेतुकापन इस चीज़ में देखने को मिलता है कि सशक्त मशीनों, अर्थात् मानवी मस्तिष्क और प्रतिभा की इन अद्भुत उत्पत्तियों को वह मेहनतकश जनता के उत्पीडन का अस्त्र बना देती है; उनका इस्तेमाल वह श्रम का बोझ बढ़ाने तथा श्रमजीवी जन समुदायों के जीवनों की असुरक्षा की स्थिति में वृद्धि करने के लिए करती है।

पूंजीवादी समाज के तमाम प्रवक्ता, राजनीतिज्ञ और इजारेदार, समाजशास्त्री और पत्रकार, दार्शनिक और ट्रेड यूनियन नेता, सबके सब, भिन्न-भिन्न रूपों में एक ही चीज़ कहते हैं: "प्रौद्योगिकी के साथ हमारा ज़बर्दस्त टकराव है, ऐसा टकराव जिसे दूर नहीं किया जा सकता।"

प्रौद्योगिकी के साथ पूंजीवाद का यह संघर्ष ऐतिहासिक रूप से नजदीक आते हुए उसके विनाश का प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रौद्योगिकी की प्रगति ही वह चीज है जो प्रकृति के ऊपर मानव-शक्ति के आधिपत्य का विस्तार करती है और स्वयम्-स्फूर्त शक्तियों के हाथ का महज एक खिलौना बना रहने के बजाय मानव को ससार का शासक और नियता बना देती है। किन्तु प्रकृति पर मानवी सत्ता का विस्तार करने के मार्ग मे पूंजीवादी सम्बन्ध आड़े आते है। पूंजीवादी सम्बन्धों का यह रोड़ा वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक प्रगति की रफ्तार को धीमा कर देता है।

जैसा कि मार्क्स ने कहा था, पूंजीवादी समाज में मशीन श्रम की उत्पादिता बढाने तथा अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का साधन होती है। पूजीवाद के अन्त के साथ-साथ प्रौद्योगिकी की दोहरी, अत्यन्त परस्पर-विरोधी यह भूमिका भी समाप्त हो जाती है। समाजवाद प्रौद्योगिकी को पूजीवादी बेड़ियों से मुक्त कर देता है और, इस प्रकार, उसके विकास के लिये निस्सीम सम्भावनाओं के द्वार उन्मुक्त कर देता है। पहली बार, मनुष्य को गुलाम बनाने वाली एक आसुरी शक्ति से बदलकर प्रौद्योगिकी उसके उद्धार तथा प्रगति की एक सबल शक्ति बन जाती है। अतिरिक्त मूल्य पैदा करने का साधन बनी रहने के बजाय, समाजवादी समाज मे मशीन जनता की भलाई और समृद्धि मे वृद्धि करने का साधन बन जाती है।

समाजवादी समाज व्यवस्था में प्रौद्योगिक प्रगति का क्या फल होता है ?

पूंजीवादी समाज में प्रौद्योगिक प्रगति तथा श्रम-उत्पादिता की वृद्धि से केवल शोषकों के मुनाफ़े बढ़ते है। समाजवादी समाज

में प्रौद्योगिक प्रगति तथा श्रम-उत्पादिता की वृद्धि में जनता की खुशहाली बढ़ती है और उसकी स्थिति निरन्तर उन्नत होती जाती है। इसी वजह से समाजवादी समाज-व्यवस्था में सभी सदस्यों को इस चीज में गहरी दिलचस्पी होती है कि प्रौद्योगिकी को उन्नत बनाया जाय, उत्पादन को अधिक से अधिक अच्छी तरह सगठित किया जाय, और उत्पादिता में वृद्धि की जाय। मेहनतकश जनता जानती है कि श्रम की उत्पादनशीलता में जितनी ही वृद्धि होगी उतना ही उसके रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा उठता जायगा।

सोवियत सघ तथा अन्य समाजवादी देशों में समाजवादी निर्माण-कार्य का अनुभव बतलाता है कि समाजवादी समाज व्यवस्था के अन्तर्गत मशीनें श्रम की किफायत करती हैं और—जोकि इससे भी अधिक महत्वपूर्ण चीज है—काम को वे हल्का और आसान बना देती हैं। मशीनों के इस्तेमाल से मेहनतकश जनता का उसमें कोई नुकसान नहीं होता और न ऐसा हो ही सकता है— क्योंकि समाजवादी समाज व्यवस्था में मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण करने की जरा भी गुन्जायश नहीं रहती और न उसके अन्दर बेकारी ही सम्भव है। समाजवादी समाज के सदस्य भली-भाँति जानते है कि प्रौद्योगिक प्रगति से होने वाले सारे फायदे, श्रम को हल्का करने और बचाने के सारे प्रयास उन्हीं के सुख और आनन्द के लिये हैं; उनसे सम्पूर्ण समाज का लाभ होगा। यही कारण है कि समाजवादी व्यवस्था में मजदूर मशीनों का खुशी-खुशी इस्तेमाल करते हैं, प्रौद्योगिक प्रगति को बढाने के काम में सक्रिय दिलचस्पी लेते है और उत्पादन का पूर्ण रूप से यन्त्रीकरण करने के काम में हर प्रकार से सहायता पहुँचाते है।

समाजवाद की यह एक विलक्षण विशेषता है कि प्रौद्योगिक प्रगति के साथ-साथ पूरी आबादी के लिये काम की भी उसमें पक्की व्यवस्था

होती है। तीव्र प्रौद्योगिक प्रगति के डर से मजदूर भयभीत नहीं रहते। इसीलिये मशीनरी तथा निर्माण-क्रियाओं में सुधार करने के काम में वे पूरे जोश से भाग लेते है। समाजवादी समाज की उत्पादन सम्बन्धी सुविधाओं की तीव्र परिमाणात्मक तथा गुणात्मक वृद्धि का यह भी एक मुख्य कारण है। प्रौद्योगिक प्रगति उत्पादन की कार्य-कुशलता बढाती है और मेहनतकश जनता की विशेष ट्रेनिंग तथा आम शिक्षा के स्तर को भी ऊँचा उठाती है। ये सब चीजे आम श्रमजीवी जनता के ही हित मे होती है।

समाजवादी समाज मे प्रौद्योगिक प्रगति के साथ-साथ मेहनतकश जनता की सांस्कृतिक एव प्राविधिक उन्नति का स्तर भी तेजी से उठता जाता है। सोवियत संघ मे ५ करोड़ से अधिक लोग, अर्थात् आबादी का हर चौथा व्यक्ति अध्ययन करता है। कई वर्षो से वहाँ यही क्रम चल रहा है। हर साल दसियों लाख लोग नये-नये धन्धे सीखते है, अथवा विशेष विद्यालयो और फैक्ट्रियों में अपनी कार्य-कुशलता बढाते है तथा नयी-नयी परीक्षाये पास करते है। उच्च रूप से कुशल कार्य-कर्त्ताओं और विशेषज्ञो को शिक्षा देने के कार्य मे सोवियत सघ ने विशेष सफलताएँ प्राप्त की है। काम की सभी शाखाओं मे कुशल कार्यकर्त्ताओं और विशेषज्ञो को भारी सख्या मे उसने तैयार कर लिया है। उसकी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की तीव्र प्रगति का यह भी एक महत्वपूर्ण कारण है।

समाजवादी अर्थ-व्यवस्था का विकास-क्रम संकटो से क्यों मुक्त होता है ?

पूँजीवादी व्यवस्था के हिमायती कहते है कि समाज-व्यवस्था चाहे जो हो आर्थिक सकटो का आना अनिवार्य है। किन्तु ये दावे कितने

पोंचे है यह इसी बात से तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि पूंजीवादी सम्बन्धों के मिटा दिये जाने के बाद सकट भी खत्म हो जाते है। सोवियत सघ तथा अन्य जिन देशों ने समाजवादी मार्ग ग्रहण कर लिया है वे आर्थिक सकटो से भी सदा के लिए मुक्त हो गये हैं।

समाजवादी देशो मे सकट और बेकारी नही होते, और न हो ही सकते है—क्योकि इन देशों मे उत्पादन-कार्य पूंजीपतियों के मुनाफे के लिए नही, वल्कि सम्पूर्ण समाज के लिए, समस्त श्रमजीवी जनता के फायदे के लिए किया जाता है।

समाजवादी उद्यमो का आधार उत्पादन के साधनो के सार्वजनिक स्वामित्व की व्यवस्था होता है, इसलिए वे समाज की भौतिक तथा सास्कृतिक आवश्यकताओ की पूर्णतम पूर्ति के लिए ही चीजें पैदा करते हैं। जनता की आवश्यकताएँ, भिन्न-भिन्न तरह के मालों की उसकी जरूरतें चूँकि लगातार वढती जाती हैं, इसलिए समाजवादी उद्यमों को भी उत्पादन के पैमाने को लगातार वढाना तथा उसका सुधार करते जाना पडता है जिससे कि और भी अच्छी क्वालिटी, आदि के माल पैदा किये जा सकें।

समाजवादी समाज के सदस्यों की सक्षम मांग नियोजित ढंग से, उत्पादन की वृद्धि के अनुसार वढती है। इस माग को पूरा करने की आवश्यकता समाजवादी उत्पादन को आगे वढ़ाती है और उसके सामने नित नये-नये काम रखती है। यही वजह है कि समाजवादी देशों में औद्योगिक तथा खेतिहर दोनो प्रकार का उत्पादन निरन्तर बढता जा रहा है। उनकी फैक्ट्रियों, कारखानों, खानों, विद्युत-केन्द्रों, रेलों, राजकीय फार्मों, आदि की संख्या वढ़ती जा रही है। उनकी विराट राष्ट्रीय आर्थिक योजना को पूरा करने के लिए भिन्न-भिन्न पेशों के

मजदूरो की अधिकाधिक सख्या मे दरकार होती है । अर्थ-व्यवस्था के नियोजित विकास के कारण समाजवादी देशो मे बेकारी का कोई सवाल ही नही उठता । काम करने तथा अपनी मेहनत का समुचित पारिश्रमिक प्राप्त करने का लोगों को हमेशा वहाँ अवसर मिलता है ।

समाजवादी देशो का अनुभव बतलाता है कि अति-उत्पादन के विनाशकारी सकट केवल पूँजीवादी समाज मे आते हैं। वह बतलाता है कि पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन हो जाने से सामाजिक जीवन के लिए अपने समस्त अशुभ परिणामो के साथ सकटो तथा बेकारी का भी सदा के लिए उन्मूलन हो जाता है ।

समाजवाद ने एक विश्व-व्यवस्था का रूप कैसे प्राप्त कर लिया है ?

जब तक दुनिया मे अकेला सोवियत सघ ही एकमात्र समाजवादी देश था तब तक अर्थ-व्यवस्था की समाजवादी प्रणाली भी केवल उसी के अन्दर पायी जाती थी । फिर जब एक देश की सीमाओ से बाहर समाजवाद का विस्तार हो गया तो उसने एक विश्व-व्यवस्था का रूप ग्रहण कर लिया । एक विश्व समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो गयी । वर्तमान युग मे समाज के विकास का यही मुख्य परिणाम है ।

विश्व अर्थ-व्यवस्था की समाजवादी प्रणाली का जिस तरह उदय और विकास हुआ है वह पूँजीवादी प्रणाली के उदय और विकास के क्रम से सर्वथा भिन्न है ।

पूँजीवाद ने एक विश्व-व्यापी आर्थिक व्यवस्था का रूप नित नये-नये देशो को विश्व-पूँजीवादी बाजार की परिधि में घसीटकर और पूँजीवादी शोषण की जड़ो को सारी दुनिया मे फैलाकर प्राप्त किया

था। सारी दुनिया मे देशो के बीच जो सम्बन्ध उसने कायम किये थे वे आधिपत्य और अधीनता के सिद्धान्त पर आधारित थे। विश्व पूँजीवाद के आर्थिक बन्धनो का विस्तार कुछ देशों द्वारा दूसरे देशो को वित्तीय रूप से अपना गुलाम बनाकर तथा चन्द साम्राज्यवादी ताकतो द्वारा उपनिवेशों के करोड़ों लोगों को दासता की जञ्जीरो मे बांधकर किया गया था।

इसके विपरीत, समाजवाद ने एक विश्व-व्यवस्था का रूप लिया है अनेक देशों मे पूँजीवादी शोषण का सफाया करके और उनके बीच बिल्कुल नये प्रकार के सम्बन्धो की, मैत्रीपूर्ण सहयोग तथा भ्रातृत्वपूर्ण पारस्परिक सहायता के सम्बन्धो की स्थापना करके। समाजवाद ने संसार के रगमच पर राज्यो के एक ऐसे परिवार के रूप में प्रवेश किया है जिनके आपसी सम्बन्ध समाजवादी अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धान्तो पर आधारित हैं।

विश्व समाजवादी व्यवस्था समाजवादी राज्यों का एक ऐसा परिवार है जिसमे अलग-अलग राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्थाएँ बहुमुखी आर्थिक सम्बन्धों के मैत्रीपूर्ण रज्जुओ से जुडी हुई है। इन समाजवादी देशों के बीच आर्थिक सहयोग चलता है। इनके बीच श्रम का अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी विभाजन होता है। इन चीज़ों से—विश्व समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की अधिक से अधिक मदद के आधार पर—प्रत्येक समाजवादी देश की उत्पादक शक्तियों का विकास करने तथा सम्पूर्ण समाजवादी बिरादरी की आर्थिक क्षमता को सुदृढ बनाने में सहायता मिलती है।

समाजवाद और पूँजीवाद की शक्तियों का सन्तुलन निरन्तर समाजवाद के पक्ष मे और पूँजीवाद के खिलाफ बदलता जा रहा है। समाजवादी व्यवस्था एक ऐसी शक्ति बनती जा रही है जो विश्व के

विकास-क्रम को अधिकाधिक मात्रा में शान्ति तथा सामाजिक प्रगति की दिशा में मोड रही है।

समाजवाद और पूंजीवाद की आर्थिक प्रतियोगिता का क्या महत्व है ?

पूँजीवाद से समाजवाद की ओर हो रहा सक्रमण ही वर्तमान युग का मुख्य तत्व है। इस सक्रमण का श्रीगणेश रूस की महान अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति ने किया था। समाजवाद और पूजीवाद की दो विरोधी सामाजिक व्यवस्थाओ के बीच आज एक तीव्र प्रतियोगिता चल रही है : इस प्रतियोगिता का क्रम तथा इसके परिणाम ही विश्व-विकास की रूपरेखा का हमारे युग मे निर्धारण करते है।

इस प्रतियोगिता की परिधि मे सामाजिक जीवन के समस्त क्षेत्र आ जाते है, किन्तु इसकी मूल तह मे आर्थिक क्षेत्र की प्रतिद्वन्द्विता होती है। यह प्रतियोगिता अधिकाधिक स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करती जा रही है कि समाजवादी व्यवस्था पूजीवादी व्यवस्था से बेहतर है, दुनिया के लिए वह अधिक कल्याणकारी है।

समाजवादी और पूजीवादी व्यवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न ही नहीं है, बल्कि एक दूसरे की विरोधी भी हैं। पूजीवाद का मतलब होता है श्रम के ऊपर पूंजी का आधिपत्य, और समाजवाद का मतलब होता है पूजी के आधिपत्य से श्रम की मुक्ति। इन दोनो व्यवस्थाओं का भिन्न-भिन्न आर्थिक नियमों के अनुसार विकास होता है।

समाजवादी उत्पादन सम्बन्धो के अन्तर्गत उत्पादक शक्तियो के विकास के लिए पूर्ण अवसर रहता है, किन्तु उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों की न जाने कब से बेडियाँ बन गये है।

समाजवाद और पूंजीवाद की दो व्यवस्थाओं के बीच चलने वाली विश्व-व्यापी आर्थिक प्रतियोगिता अधिकाधिक मात्रा में स्पष्ट करती जा रही है कि समाजवादी व्यवस्था श्रेष्ठ है।

समाजवाद और पूंजीवाद की आर्थिक प्रतियोगिता की क्या मंजिलें हैं ?

समाजवाद और पूंजीवाद की दो भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं की आर्थिक प्रतियोगिता को दो मुख्य मंजिलों में बांटा जा सकता है। इस प्रतियोगिता का प्रारम्भ सोवियत संघ में समाजवादी क्रान्ति की विजय से हुआ था।

पहली मंजिल में अकेला सोवियत संघ ही दुनिया में एक समाजवादी देश था। चारों ओर से वह पूंजीवादी राज्यों से घिरा था। सोवियत जनता ने इसी स्थिति में समाजवाद का पथ उजागर किया। अपने देश में उसने समाजवादी समाज के निर्माण का कार्य शुरू किया और उसे पूरा किया। उस मंजिल में दोनों व्यवस्थाओं के बीच जो आर्थिक प्रतियोगिता चलती थी वह, वास्तव में, सोवियत संघ तथा पूंजीवादी दुनिया की प्रतियोगिता थी।

दूसरी मंजिल में अब अकेला सोवियत संघ ही नहीं समाजवादी देश दुनिया में रह गया। दुनिया में दो विश्व-व्यवस्थाएं अब एक दूसरे के आमने-सामने खड़ी हैं: एक तरफ विश्व पूंजीवादी व्यवस्था है और दूसरी तरफ विश्व समाजवादी व्यवस्था। फलस्वरूप, समाजवाद और पूंजीवाद की प्रतियोगिता ने दो विश्व-व्यवस्थाओं की प्रतियोगिता का रूप ले लिया है।

दोनों व्यवस्थाओं की इस आर्थिक प्रतियोगिता में समाजवादी देशों

का लक्ष्य यह है कि पहले तो वे आर्थिक रूप से सर्वोन्नत पूंजीवादी देशों की बराबरी तक पहुँच जाएँ और फिर उन्हें पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाएँ। इतिहास में सबसे पहले समाजवादी क्रान्ति की विजय रूस में हुई थी। रूस में उस वक़्त औसत दर्जे का पूंजीवादी विकास था। प्राविधिक तथा आर्थिक रूप से सर्वोन्नत पूजीवादी राज्यों से वह काफ़ी पीछे था। दूसरी मंजिल में कई योरोपीय और एशियाई देशों में समाजवादी क्रान्ति विजयी हुई। ये देश भी अधिकाशतया खेतिहर देश थे और प्राविधिक तथा आर्थिक रूप से पिछड़े हुए थे।

समाजवादी आर्थिक व्यवस्था से होने वाले फ़ायदों की मदद से विश्व समाजवादी व्यवस्था के देशों के प्राविधिक तथा आर्थिक पिछड़ेपन को ऐतिहासिक रूप से कम से कम समय में दूर किया जा रहा है। समाजवादी क्रान्ति के बाद, औद्योगिक उत्पादन में बीस ही वर्ष के अन्दर सोवियत सघ योरप का सबसे उन्नत देश बन गया। इसी काल में औद्योगिक उत्पादन की दृष्टि से दुनिया में उसका दूसरा स्थान हो गया और वह एक बलशाली औद्योगिक-खेतिहर राज्य बन गया। सोवियत सघ की आर्थिक क्षमता उसके बाद से और भी अधिक बढ़ गयी है। सोवियत सघ और अमरीका के आर्थिक विकास के स्तरों का अन्तर बराबर कम होता जा रहा है।

इसी तरह सोवियत संघ की सहायता तथा विश्व समाजवादी परिवार के दिनोदिन बढ़ते पारस्परिक सहयोग से योरप की जनता की लोक शाहियों (Peoples Democracies) ने भी अपने प्राविधिक और आर्थिक पिछड़ेपन को १०-१५ वर्षों के अन्दर ही मिटा दिया है और अपने को उच्च रूप से विकसित औद्योगिक-खेतिहर देशों में परिवर्तित कर लिया है। प्रति व्यक्ति उत्पादन की दृष्टि से सर्वाधिक विकसित पूंजीवादी देशों की बराबरी पर पहुँचने और फिर उन्हें

पीछे छोड़ देने के संघर्ष मे समाजवादी देश सफलतापूर्वक आगे बढ़ रहे हैं।

पूंजीवादी व्यवस्था की तुलना मे समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की श्रेष्ठता का क्या आधार है ?

पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था पर समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की विजय अनिवार्य है। इसकी वजह यह है कि पूंजीवाद की तुलना मे समाजवाद की सामाजिक व्यवस्था अधिक ऊँची और बेहतर है।

समाजवाद ने नये प्रकार के उत्पादन-सम्बन्ध कायम कर दिये है। पूंजीवादी उत्पादन-सम्बन्धों की तुलना मे ये अधिक अच्छे है। समाजवादी उत्पादन सम्बन्ध मानव द्वारा मानव के शोषण की व्याधि से मुक्त हैं। ये सम्बन्ध समाज के समान अधिकार रखने वाले और स्वतन्त्र सदस्यों के बीच सहयोग के, संयुक्त कार्य में पारस्परिक सहायता तथा भ्रातृत्वपूर्ण अनुकरण के सम्बन्ध हैं। ये सम्बन्ध जनता की सृजनात्मक पहलक़दमी, उसकी क्रियाशीलता तथा उसकी सुप्त शक्तियों को जगाने और अनुप्राणित करने मे सहायता देते है—उसकी प्रतिभा तथा क्षमताओं के प्रस्फुटन मे योग देते है। सच्चे अर्थ मे ये पूर्णतया मानवी सम्बन्ध होते है। शोषण और निर्मम प्रतियोगिता के पूंजीवादी सम्बन्धो से ये उतने ही भिन्न होते है जितनी आकाश से पृथ्वी भिन्न होती है !

समाजवादी आर्थिक व्यवस्था ने उत्पादन की अराजकता को मिटा दिया है और उत्पादन के सामाजिक स्वरूप तथा उसके फलों को हड़प लेने के निजी पूंजीवादी स्वरूप के बीच के अन्तर्विरोध को समाप्त कर दिया है। समाजवादी समाज मे अर्थ-व्यवस्था के

नियोजित तथा आनुपातिक विकास का एच नया आर्थिक नियम काम करता है। इसके फलस्वरूप, अति-उत्पादन के सत्यानाशी आर्थिक संकटो, बेकारी, तथा हानिकर प्रतियोगिता जैसी पूंजीवाद की असाध्य व्याधियो मे समाजवादी समाज पूर्णतया मुक्त होता है। समाजवादी व्यवस्था मे उत्पादन लगातार और तेजी मे बढना जाता है, उत्पादक शक्तियों को बुद्धि-सगत ढग से नियोजित किया जाता है, तथा राष्ट्र के समस्त साधनों का सम्पूर्ण समाज के हित मे लाभदायी ढंग से उपयोग किया जाता है।

समाजवादी आर्थिक व्यवस्था पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था से श्रेष्ठ है—इस चीज की कई प्रक्रियाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है।

समाजवादी समाज में उत्पादक शक्तियों का विकास पूंजीवाद की अपेक्षा अधिक तेजी से होता है। सोवियत सघ तथा अन्य समाज-वादी देशो मे उत्पादन की वृद्धि जिस गति से हो रही है वह पूंजीवादी देशों की तुलना मे कई गुना अधिक है। १९१३ के मुकाबले मे १९६३ तक सोवियत सघ का उत्पादन ५२ गुना अधिक बढ गया था; इसी दौरान उत्पादन के उसके साधनों की पैदावार १२० गुना अधिक हो गयी थी; इंजीनियरिंग तथा धातु के कारखानों का काम ४०१ गुना बढ गया था; और रासायनिक तथा रबड़ और एस्बेस्टस के उद्योगो की २०० गुना तथा विद्युत-शक्ति की २०२ गुना अधिक वृद्धि हो गयी थी।

वर्तमान-कालीन पूंजीवाद प्रौद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप असाध्य आर्थिक और सामाजिक असंगतियों के जाल मे फँस गया है; किन्तु समाजवादी दुनिया की स्थिति बिल्कुल दूसरी है: उसमे तीव्र प्रौद्योगिक प्रगति के लिए तमाम दरवाजे खोल दिये गये है।

समाजवाद मे श्रम की उत्पादन-शीलता पूँजीवाद की अपेक्षा कहीं अधिक तेज़ी से बढ़ती है। समाजवाद उन तमाम पूर्व-परिस्थितियों की सृष्टि कर देता है जो श्रम-उत्पादिता की वृद्धि के लिए आवश्यक होती हैं। और, वास्तव मे, श्रम-उत्पादिता की यह वृद्धि ही नयी, उच्चतर समाज-व्यवस्था की विजय को सबसे महत्वपूर्ण शर्त होती है। १९६३ के आरम्भ तक सोवियत उद्योग-धन्धों की श्रम-उत्पादिता १९१३ की तुलना मे लगभग १३.२ गुना अधिक बढ गयी थी। इसी काल मे अमरीका मे ३.४ गुना, फ्रान्स मे २.६ गुना, और ब्रिटेन मे १.७ गुना उसकी वृद्धि हुई थी।

अन्त मे, ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ता और बेहतर होता जाता है त्यों-त्यों जनता के रहन-सहन का स्तर भी समाजवादी समाज मे बराबर ऊँचा उठता जाता है। पिछले दस वर्षों मे सोवियत संघ की राष्ट्रीय आय १३० प्रतिशत बढ़ी है। प्रतिव्यक्ति के हिसाब से देखा जाय तो उसकी आय मे ९३ प्रतिशत वृद्धि हुई है, अर्थात्, हर आदमी की आय दुगुनी हो गयी है। सोवियत सघ में इस समय १० करोड ७० लाख लोग उपयोगी धन्धों में लगे हुए है। इनमे से लगभग आधे ऐसे है जो उच्चतर, अथवा माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। अर्थ-व्यवस्था की समस्त शाखाओं के मज़दूरों की कार्य-कुशलता साल-दर-साल बढ़ती जाती है। एक ज़बर्दस्त प्रतियोगिता मे आबद्ध इन दोनो व्यवस्थाओ मे कौन अधिक अच्छी है इस प्रश्न का उत्तर समाजवाद जनता के समस्त अगों, पूरे समाज, तथा व्यक्तिगत रूप से उसके प्रत्येक सदस्य की भौतिक तथा सांस्कृतिक आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ण मात्रा मे और अच्छी तरह सम्पूर्ति करके देता है। दोनो व्यवस्थाओं की श्रेष्ठता के प्रश्न का फ़ैसला इसी से हो जाता है।

५. समाजवादसे साम्यवादकी ओर

वितरण का कौन सिद्धान्त अधिक अच्छा है ?

समाजवादी समाज का निर्माण कर लेने के बाद, सोवियत जनता ने अपना लक्ष्य पूर्ण साम्यवाद (कम्युनिज्म) की स्थापना करना बनाया है।

"समाजवाद" (सोशलिज्म) और "साम्यवाद" (कम्युनिज्म) शब्दों से आज सारी दुनिया परिचित है। इन शब्दों के वास्तविक महत्व को मार्क्सवाद के संस्थापकों ने स्पष्ट किया था। किन्तु ये शब्द मार्क्सवाद के जन्म के पहले से ही मौजूद थे।

"समाजवाद" (सोशलिज्म) शब्द पहले-पहल १९वीं शताब्दी के चौथे दशक (१८३०-४०) में फ्रान्स और ब्रिटेन में सुनने को मिला था। वहाँ से फिर उसे दूसरे देशों में ले जाया गया। "साम्यवाद" (कम्युनिज्म) शब्द का प्रादुर्भाव और भी पहले हुआ था। शुरू-शुरू में इन दोनों का उपयोग किन्हीं निश्चित विचारों, धारणाओं तथा सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता था। बहुत दिनों तक ये सिद्धान्त काल्पनिक (utopian) थे, अर्थात् वास्तविकता से दूर थे। किन्तु उन्हें मात्र कपोल-कल्पना नहीं कहा जा सकता था। उनमें उत्पीड़न और शोषण के जुए के नीचे कराहती जनता की अनेकानेक पीढ़ियों की आकाक्षाएँ और आशाएँ प्रतिबिम्बित थीं।

श्रमजीवी जनता एक ऐसे समाज का स्वप्न देखती थी जिसमें अपने श्रम के फलों का वह स्वयम् उपभोग कर सके। कल्पनावादी विचारक उदात्त हृदय और उच्च विचारों के लोग थे। स्वतन्त्रता और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित भावी समाज के उन्होंने बड़े सजीव चित्र खींचे थे और उनमें सुखी जीवन के लिए साधारण इन्सानों के स्वप्नों की मदावत अभिव्यंजना की थी।

परन्तु ये कल्पनावादी (utopians) उन वास्तविक नियमों को नहीं समझते थे जो सामाजिक विकास-क्रम का संचालन करते हैं। उनका विश्वास था कि विचार ही दुनिया का शासन करते हैं। इसीलिए उनमें से अनेक ने शासक वर्गों को यह समझाने-बुझाने की कोशिश की थी कि वे शोषण करना बन्द कर दें। न्यायपूर्ण तथा सुखी समाज की रचना के लिए वे जनता का नहीं, बल्कि सत्ताधारियों का मुँह जोहते थे। फिर स्वाभाविक ही था कि उनकी आशाएँ पूरी नहीं हुईं और उनके भ्रम टूट गये।

आदर्श सामाजिक व्यवस्था की रचना करने के सम्बन्ध में कल्पनावादियों की अलग-अलग अनेक योजनाएँ थीं। भविष्य समाज का उन्होंने ऐसा खाका तैयार किया था जिसे वे सबसे अधिक बुद्धि-सगत तथा न्यायपूर्ण समझते थे। सबसे पहले कल्पनावादी १६वीं–१८वीं शताब्दी के दरम्यान हुए थे। उनका विश्वास था कि भविष्य समाज के तमाम सदस्य अपनी योग्यता के अनुसार काम करेंगे और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार जो चाहेंगे समाज से ले लेंगे। १९वीं शताब्दी के आरम्भिक दिनों में कल्पनावादी समाजवादियों के बीच एक और धारणा फैली हुई थी। उन्होंने यह सिद्धान्त पेश किया था कि हर मज़दूर को उतना ही हिस्सा मिलना चाहिए जितना सामान्य हित में वह अपना श्रम लगाता है।

"हर व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समाज से चीजें ले ले" तथा "हर आदमी अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और अपने काम के अनुसार समाज से चीज़ें ले ले"—इन सिद्धान्तों मे कौन अधिक अच्छा है ? इस विषय को लेकर १९वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे कम्युनिस्ट और सोशलिस्ट समुदायो मे जबर्दस्त बहसे हुई थी। किन्तु इन बहसों से कोई उपयोगी नतीजा न निकल सका था—क्योंकि उनके पीछे कोई वैज्ञानिक आधार न था।

समाजवाद और साम्यवाद में क्या अन्तर है ?

मज़दूर वर्ग के महान शिक्षकों, मार्क्स और एंगेल्स ने समाजवाद को एक काल्पनिक चीज़ से बदल कर एक विज्ञान का रूप दे दिया है। मार्क्सवाद के संस्थापको ने सिद्ध कर दिया है कि समाज मे साम्यवाद की स्थापना होगी, किन्तु ऐसा किसी की सदेच्छाओ के कारण नही, बल्कि विकास के वस्तुगत नियमों की वजह से होगा।

पूंजीवाद का तख्ता उलट देने के बाद मजदूर वर्ग एक नये समाज का निर्माण शुरू कर देता है, ऐसे समाज का जिसमे न शोपक होंगे और न शोषित। किन्तु उसे इस बात का मौका नही मिलता कि वह यह चुन सके कि इन दो सिद्धान्तो में कौन बेहतर है : "हर आदमी अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समाज से चीजें ले ले" तथा "हर आदमी अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और अपने काम के अनुसार समाज से चीजें ले ले"। समाजवाद का जन्म क्रान्ति की विजय के बाद होता है। उसका विकास उसी जमीन पर होता है जिसे पूंजीवाद तैयार कर रखता है।

इसलिए नये समाज के लिए लाज़मी होता है कि, उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व की व्यवस्था का उन्मूलन कर देने और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के निज़ाम को नष्ट कर देने के बाद, एक निश्चित काल तक वह इस सिद्धान्त को लागू करे कि "हर आदमी अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और अपने काम के अनुसार समाज से चीज़ें ले ले"।

यही समाजवाद, अथवा साम्यवाद की निचली अवस्था है। विकास की इस अवस्था मे उत्पादन के साधन समाज की सम्पत्ति बन चुके होते हैं। इसीलिए इस समाज का वर्णन करने के लिए भी "साम्यवाद" शब्द का इस्तेमाल किया जा सकता है बशर्ते कि हम याद रखें कि यह पूरा साम्यवाद नही है। परन्तु साम्यवादी व्यवस्था का विकास उसकी पहली अथवा निचली अवस्था में ही नहीं समाप्त हो जाता। वह आगे बढ़ता है, साम्यवाद की दूसरी, अथवा उच्चतर अवस्था में प्रवेश करता है—उस अवस्था मे जिसमें समाज इस सिद्धान्त को लागू कर सकेगा कि, "हर आदमी अपनी क्षमता के अनुसार काम करे और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार समाज से चीजें ले ले।"

इस भांति, साम्यवाद और समाजवाद एक ही साम्यवादी सामाजिक आर्थिक सरचना के विकास की दो क्रमिक अवस्थाएँ है। नये समाज की आर्थिक परिपक्वता की ये दो अलग-अलग सतहें हैं: समाजवाद उसकी निचली सतह है, और साम्यवाद ऊपरी। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साम्यवाद और समाजवाद के बीच कोई दीवाल नही है और न हो ही सकती है। अपने विकास-क्रम में समाजवाद विकसित होकर स्वाभाविक रूप से साम्यवाद का रूप ले लेता है। समाजवाद साम्यवाद की पहली अवस्था है। उसमे पहुँच जाने के

वाद समाज विकसित होकर और आगे बढ़ता है, और उसकी उच्चतर मंजिल मे, पूर्ण साम्यवाद की मंजिल में पहुँच जाता है।

पूर्ण साम्यवाद के सिद्धान्त को फ़ौरन क्यों नहीं लागू किया जा सकता ?

प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के अनुसार सब चीजें समाज से प्राप्त कर सके इसके लिए सबसे पहले इस चीज की जरूरत होती है कि समाज की धन-सम्पदा मे ज़बर्दस्त वृद्धि हो जाय। इसके लिए आवश्यक होता है कि भौतिक तथा आत्मिक वस्तुओ तथा जिन्दगी की सुख-सुविधाओं की समाज मे बहुलता हो। समाज इन्हें कहाँ से प्राप्त कर सकता है ? जीवन की समस्त अच्छी वस्तुओं की सृष्टि मानवी श्रम से होती है। इसलिए ज़रूरी होता है कि श्रम की उत्पादिता अत्यधिक बढ़ जाय और उत्पादन का पैमाना भी बहुत बड़ा हो जाय। दूसरे शब्दो में, इसके लिए आवश्यक होता है कि समाज की उत्पादक शक्तियाँ बेहद उन्नत हो जायँ।

साम्यवाद की उच्चतर मंजिल मे पहुँचने की यह एक बुनियादी शर्त है, किन्तु उसकी यही एकमात्र शर्त नहीं है। उक्त लक्ष्य तक पहुँचने के लिये अन्य भौतिक तथा आध्यात्मिक उपकरणों की भी आवश्यकता होती है। अस्तु, जब तक शहर और देहात के रहन-सहन और काम के स्तरों के कमोबेश बुनियादी फ़र्क बने रहते हैं तब तक काम के अनुसार वितरण करने के सिद्धान्त को छोड़ना और आवश्यकताओं के अनुसार वितरण करने के सिद्धान्त को प्रचलित कर सकना असम्भव है। इसी प्रकार, शारीरिक और मानसिक श्रम के बीच का फ़र्क जब तक मौजूद है तब तक साम्यवाद की उच्चतर मंजिल की स्थापना कर सकना असम्भव है।

अन्त मे, पूर्ण साम्यवाद की स्थापना करने के लिए आवश्यक है कि श्रम मनुष्य की मुख्यतम आन्तरिक आवश्यकता वन जाय। साम्यवाद की उच्चतर मञ्जिल मे, जवकि उत्पादन की प्रौद्योगिकी असाधारण रूप से विकसित हो चुकी होगी और जनता का सास्कृतिक स्तर अत्यधिक ऊँचा उठ चुका होगा, हर किस्म का काम सृजनात्मक काम होगा। सृजनात्मक प्रयास से मनुष्य को सर्वोच्च प्रकार की सतृप्ति प्राप्त होती है। तव काम करने के लिये लोगो को भौतिक रूप से प्रोत्साहित करना आवश्यक नही रह जायगा। तव श्रम स्वयम् मनुष्य के सन्तोष और सुख का एक साधन वन जायगा और अपनी समस्त सृजनात्मक क्षमताओं तथा शक्तियों का वह उन्मुक्त भाव से और मुफ्त अपने काम में उपयोग करेगा। तव समाज के सभी सदस्य जीविका के साधनों को समाज से मुफ्त प्राप्त कर सकेंगे।

साम्यवाद की उच्चतर मंजिल के लिए कैसे रास्ता तैयार किया जाता है ?

साम्यवाद (कम्युनिज्म) की उच्चतर मंजिल की ओर बढने का रास्ता समाजवादी समाज के मुख्य आधारो को निरन्तर विकसित करके तथा उन्हे सुदृढ़ वनाकर तैयार किया जाता है। साम्यवाद की उच्चतर मजिल की ओर क्रमशः सक्रमण करने के लिए जिन समस्त पूर्व-परिस्थितियो की आवश्यकता होती है उन्हे समाजवादी व्यवस्था की प्रगति तैयार करती जा रही है। ये पूर्व-परिस्थितियाँ ज्यों-ज्यों तैयार और विकसित होती जाती है त्यों-त्यों, सुसगत रूप से और आहिस्ता-आहिस्ता, समाज कम्युनिज्म (साम्यवाद) की ओर बढ़ता जाता है।

सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बाईसवी काग्रेस ने १९६१ मे प्रथम कम्युनिस्ट समाज के निर्माण का एक कार्यक्रम तैयार किया था। यह कार्यक्रम मानव इतिहास के प्रथम साम्यवादी समाज का कार्यक्रम है। सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम मे साम्यवाद को एक ऐसी वर्ग-विहीन सामाजिक व्यवस्था बतलाया गया है जिसमे उत्पादन के साधनो का सार्वजनिक स्वामित्व एक ही प्रकार का होता है और समाज के समस्त सदस्यो के बीच पूर्ण सामाजिक समानता होती है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के सतत विकास के आधार पर होनेवाली उत्पादक शक्तियो की वृद्धि से उसमे जनता का चौमुखी विकास हो जायगा, सहकारी सम्पदा के समस्त स्रोत और भी प्रचुरता से प्रवाहित होने लगेगे, और "प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार समाज से समस्त चीजे ले ले" के महान् सिद्धान्त पर अमल होने लगेगा। साम्यवाद (कम्युनिज्म) पूर्णतया मुक्त, सामाजिक रूप से सचेत श्रमजीवियों का उच्च रूप से सगठित एक ऐसा समाज है जिसमें सार्वजनिक स्वशासन की स्थापना हो जायगी; वह एक ऐसा समाज है जिसमे सबके कल्याण के लिये श्रम करना प्रत्येक व्यक्ति की प्रमुख और प्राणमूलक आवश्यकता बन जायगी।

कम्युनिस्ट समाज के निर्माण से सम्बन्धित मुख्य समस्याओ के हल के लिए कम्युनिज्म का भौतिक और प्राविधिक आधार तैयार करना आवश्यक होता है। यह आधार ही कम्युनिस्ट समाज की ओर बढ़ने की कुजी है। कम्युनिज़्म की उच्चतर मज़िल की स्थापना के लिये आवश्यक समस्त पूर्व-परिस्थितियाँ इसी आधार-शिला की बुनियाद पर तैयार हो सकेंगी। उत्पादन के समाजवादी सम्बन्धों को उन्नत करने तथा उन्हे कम्युनिस्ट सम्बन्धो का रूप देने के काम मे भी यही आधार सहायता देगा।

कम्युनिज़्म की उच्चतर मंजिल तक पहुँचने के लिए भौतिक परिस्थितियो के साथ-साथ किन्ही निश्चित आध्यात्मिक या आत्मिक (spiritual) पूर्व-परिस्थतियों की भी आवश्यकता होती है। इन आध्यात्मिक पूर्व-परिस्थितियों में नये मानव की शिक्षा भी सम्मिलित है—वह शिक्षा जो उसे कम्युनिस्ट समाज का सदस्य बनने योग्य बनाती है। कम्युनिज़्म के पूर्ण निर्माण के काल मे जनता की—जो समाज की मुख्य उत्पादक शक्ति है—कम्युनिस्ट शिक्षा, कम्युनिस्ट समाज के निर्माताओं की शिक्षा, बुनियादी महत्व की चीज़ बन जाती है।

समाज कल्याण के लिए किये जाने वाले काम के प्रति एक सचेत दृष्टिकोण तथा सार्वजनिक सम्पत्ति की ओर एक पूर्ण ईमानदारी के रुख के बिना कम्युनिज़्म की उच्चतर मंज़िल की ओर नही बढ़ा जा सकता।

इस सबसे स्पष्ट हो जाता है कि लोगों के मस्तिष्कों में पूँजीवाद के बचे-खुचे चिन्हों के खिलाफ संकल्पपूर्ण तथा सतत संघर्ष करना, काम तथा समाजवादी सम्पत्ति की तरफ़ पुराने दृष्टिकोण के अवशेषों के विरुद्ध संघर्ष करना, और "जो काम नही करता, उसे खाने को भी नही मिलेगा" के सिद्धान्त पर सख्त अमल के लिए संघर्ष करना इस काल में अत्यन्त आवश्यक होता है।

कम्युनिज़्म के निर्माण में आधुनिक वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक क्रान्ति का क्या महत्व है ?

मानवजाति आज एक महान वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक क्रान्ति के द्वार पर खड़ी है। इस विराट उथल-पुथल के लिए जमीन तैयार की है आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की विलक्षण उपलब्धियों ने।

उत्पादन क्षेत्र में स्व-चालन (आटोमेशन) व्यवस्था कायम हो गयी है, रसायन विज्ञान प्रगति की नयी मञ्जिलों पर पहुँच गया है, आण्विक ऊर्जा पर मानव ने आधिपत्य स्थापित कर लिया है, अन्तरिक्ष की खोजों ने नये क्षितिज उजागर कर दिये है–ये सब चीजें आधुनिक वैज्ञानिक एवम् प्रौद्योगिक क्रान्ति की अप्रतिम उपलब्धियाँ है; वे इस बात की अग्रसूचक है कि प्रकृति की शक्तियों को नाथने की दिशा में शीघ्र ही मानव एक नयी और अभूतपूर्व गुणात्मक छलाग लगाने वाला है। ...

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास में समाजवादी समाज अधिक से अधिक योग देता है। सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यक्रम मे कम्युनिस्ट समाज के निर्माण का एक भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस चित्र में उत्पादक शक्तियों के विकास की एक अत्यन्त साहसी तथा वास्तविक योजना पेश की गयी है। ऐसी विराट योजना की इतिहास में दूसरी कोई मिसाल नही है।

कम्युनिस्ट समाज की रचना एक अत्यन्त सबल भौतिक और प्राविधिक आधार पर होगी। सोवियत जनता को दो ही दशकों (१९६०–१९८०) के अन्दर इस आधार को तैयार करना है—यही अब उसका मुख्य आर्थिक कार्य है। इस कार्य को पूरा कर लेने पर सोवियत संघ सर्वाधिक विकसित देशों के प्राविधिक स्तर से भी ऊपर पहुँच जायगा और प्रतिव्यक्ति उत्पादन की दृष्टि से दुनिया में सबसे आगे हो जायगा। प्रकृति के ऊपर सोवियत समाज का अभूतपूर्व हद तक प्रभुत्व स्थापित हो जायगा। साथ ही साथ, जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने, उसके काम की दशाओं मे सुधार करने तथा उन्हें आसान बनाने, सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों को हर प्रकार से पूर्ण तथा निर्दोष बनाने, विज्ञान, कला, तथा संस्कृति का उच्चतम

विकास करने, और नये मानव को शिक्षित करने के उद्देश्य से एक व्यापक कार्यक्रम कार्यान्वित किया जायगा।

कम्युनिज्म के भौतिक और प्राविधिक आधार का निर्माण करने के क्या रास्ते हैं ?

कम्युनिज्म के लिए आवश्यक भौतिक तथा प्राविधिक आधार की रचना के लिए जरूरी है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के आधुनिक विकास ने जिन विराट् सम्भावनाओं के द्वार खोल दिये हैं उनका पूर्ण रूप से उपयोग किया जाय।

इसके लिए सबसे पहले यह जरूरी होता है कि पूरे देश का पूर्ण रूप से विद्युतीकरण कर लिया जाय और फिर, उसके आधार पर, उद्योगों और कृषि के क्षेत्र में सामाजिक उत्पादन की प्राविधिक सहूलियतों को बढ़ाया जाय तथा उत्पादन के तरीकों और संगठन को सुधारा व समुन्नत बनाया जाय। पूरे देश के विद्युतीकरण का मतलब यह होता है कि कृषि समेत सम्पूर्ण राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था का आधुनिक बड़े पैमाने के उत्पादन के नवीन प्राविधिक आधार पर पुनर्निर्माण कर लिया जाय; श्रम, उत्पादन की समस्त प्रक्रियाओं तथा जनता के दैनंदिन जीवन के तमाम क्षेत्रों में बिजली को ले जाया जाय—अर्थात् उनका विद्युतीकरण कर दिया जाय। कम्युनिज़्म के भौतिक तथा प्राविधिक आधार का निर्माण करने के लिए यह भी आवश्यक होता है कि उत्पादन की प्रक्रियाओं का पूर्ण रूप से यंत्रीकरण कर दिया जाय और उनके अन्दर स्व-चालन की और भी व्यापक व्यवस्था स्थापित की जाय। प्रौद्योगिक प्रगति की आज यही आम प्रवृत्ति है। तेज़ी से आर्थिक प्रगति करने में इससे निर्णायक मदद मिलती है। श्रम की उत्पादिता को तेज़ी से बढ़ाने के लिए भी यह अत्यन्त आवश्यक है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के निरन्तर विकास के कारण स्व-चालन की भी सीमाएँ सतत विस्तृत होती जा रही है। इसकी वजह से यह भी सम्भव हो रहा है कि उन कामों को जिन्हे पहले मनुष्य करते थे अब मशीनों से कराना शुरू कर दिया जाय तथा श्रम-साध्य कामों का यंत्रीकरण कर दिया जाय। विशेष रूप से, एलेक्ट्रॉनिक्स (ऋणाणुविज्ञान) के विकास से कम्प्यूटर (गणक) तथा कन्ट्रोल (नियंत्रण) व्यवस्थाओं का निर्माण करना सम्भव हो गया है। इन व्यवस्थाओं से उत्पादन के स्व-चालित नियंत्रण की अत्यत जटिल समस्याओं को सफलतापूर्वक हल करने, शोध-कार्य से सम्बन्धित अनेक प्रकार्यो को पूरा करने, नियोजन-कार्य से सम्बन्धित गणनाओं को पूरा करने, तथा लेखांकन (accounting), सांख्यकी (statistics) और आर्थिक प्रबन्ध (economic management) के क्षेत्र की समस्याओं का समाधान करने मे बेहद सहायता मिलती है।

कम्युनिजम का भौतिक तथा प्राविधिक आधार तैयार करने के लिए यह भी आवश्यक होता है कि अर्थ-व्यवस्था के क्षेत्र में रासायनिक प्रक्रियाओं तथा उत्पत्तियो का भी व्यापक पैमाने पर उपयोग किया जाय। आधुनिक रसायनशास्त्र की उपलब्धियों ने इस बात की सम्भावना पैदा कर दी है कि पूर्व-निर्धारित गुणों से सम्पन्न नयी, बेहतर तथा अधिक सस्ती वस्तुएँ हम तैयार कर लें। इन नये मालो के गुण पुरानी किस्मो के कच्चे मालों के गुणों से कही बेहतर होते हैं। इन मालों का उपयोग उत्पादन के साधनों तथा उपभोक्ता मालों दोनों के निर्माण में होता है। इन मालो का दायरा साल-दर-साल बढ़ता जा रहा है। रासायनिक प्रक्रियाओ तथा रसायन-विज्ञान द्वारा तैयार की गयी इन सामग्रियो के इस्तेमाल का अर्थव्यवस्था की अनेक शाखाओं के विकास पर गहरा तथा क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ रहा है। कृषि क्षेत्र मे रसायन-विज्ञान के इस्तेमाल की वजह से और, खासतौर से खनिज

उवरकों के व्यापक इस्तेमाल की वजह से, पैदावार बढाने, पशु-पालन के कार्य को उन्नत करने तथा खाद्यान्नों व कच्चे मालो का प्रचुर मात्रा मे उत्पादन करने की जबर्दस्त सम्भावनाएँ पैदा हो गयी है।

शक्ति के नये स्रोतों ने क्या सम्भावनाएँ पैदा कर दी हैं ?

शक्ति के नये स्रोतों से कम्युनिज्म की प्रौद्योगिकी की सृष्टि करने मे बहुत मदद मिलती है। शक्ति के नये, अज्ञात तथा अक्षय स्रोतो की खोज प्रकृति के ऊपर मनुष्य की सत्ता के विराट विस्तार की सूचक तथा परिचायक है।

परमाण्विक शक्ति (atomic energy) के शान्तिपूर्ण उपयोग से न जाने कितनी बड़ी-बड़ी चीजें सम्पन्न की जा सकती हैं। सोवियत संघ मे नाभिकीय ऊर्जा (nuclear energy) का अधिकाधिक मात्रा मे उपयोग किया जा रहा है। तापनाभिकीय अभिक्रिया (thermo-nuclear reaction) का शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल किया जाय तो विकास की और भी विराट सम्भावनाओं के द्वार खुल जायेंगे। इस प्रकार की ऊर्जा का अभी तक मनुष्य ने हाइड्रोजन बम के रूप में— केवल विध्वंसात्मक कार्यों के लिए इस्तेमाल करना सीखा है। मानव के सृजनात्मक विचार तथा प्रयास जिस दिन इस ऊर्जा को वश मे करने तथा इसका उपयोग करने मे कामयाब हो जायेंगे उसी दिन समाज को एक अत्यन्त सस्ती, एक तरह से पूर्णतया मुफ्त, शक्ति का एक अक्षय स्रोत प्राप्त हो जायगा।

समाज तब ऐसी-ऐसी चीजें कर सकेगा जिनकी बड़े से बड़े स्वप्न-दृष्टाओं ने भी आज तक कभी कल्पना नहीं की। वह दिन दूर नहीं है

जब मनुष्य रेगिस्तानों को हरे-भरे उद्यानों में बदल देगा, महाद्वीपों और महासागरों को नया रूप दे देगा, तथा पृथ्वी की जलवायु तक को बदल देगा, इत्यादि ।

काम की भौतिकी तथा नैतिक प्रेरणाओंके बीच *समन्वय स्थापित करना क्यों आवश्यक है ?*

श्रम के समाजवादी सगठन का आधार यह सिद्धान्त है कि, "जो काम नहीं करता, उसे खाने को भी नहीं मिलेगा" तथा "प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार काम करे तथा अपने काम के अनुपात में समाज से अपनी आवश्यकता की चीजें ले ले" ।

इन सिद्धान्तों के कारण मेहनतकश जनता की अपनी मेहनत-मशक्कत के फल मे भौतिक दिलचस्पी पैदा हो जाती है । लोगों को काम मे लगाने के नये-नये तरीके ईजाद करना नये समाज के निर्माण के लिए एकदम जरूरी है । समाजवाद इस काम को सफलतापूर्वक अन्जाम देने की चेष्टा कर रहा है । विकास की द्वन्द्वात्मक पद्धति ही ऐसी है कि काम के अनुसार वितरण करने के समाजवादी सिद्धान्त पर सुसगत रूप से अमल करने के फलस्वरूप भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही तरह की वे पूर्व-परिस्थितियाँ तैयार होती जा रही हैं जिनकी आवश्यकताओं के अनुसार वितरण (distribution according to needs) करने के साम्यवादी (कम्युनिस्ट) सिद्धान्तों की ओर संक्रमण करने के लिए जरूरत है ।

समाजवाद के पूरे काल मे काम के भौतिक प्रोत्साहनों (material stimuli) की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होती है । किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि समाजवादी समाज में काम करने के

लिए भौतिक प्रोत्साहन ही प्रेरणा का एकमात्र स्रोत होता है। बात इसकी बिल्कुल उल्टी है। भौतिक उद्दीपनों के साथ-साथ समाजवाद शक्तिशाली नैतिक उद्दीपनों की भी सृष्टि करता है और इन नैतिक उद्दीपनों की भूमिका तथा महत्व निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं।

समाजवादी श्रम ज्यों-ज्यों साम्यवादी श्रम में बदलता जायगा त्यों ही त्यों नैतिक उद्दीपनों का भी महत्व दिनोंदिन बढ़ता जायगा। इसके साथ-साथ, समाजवादी निर्माण का अनुभव बतलाता है कि अपने श्रम के फल में काम करने वाले लोगों को भौतिक दिलचस्पी एक ऐसी शक्ति है जिसका उपयोग किये बिना विशाल जनसमुदायों को कम्युनिज्म की ओर नहीं ले जाया जा सकता। इसीलिए जरूरी होता है कि कम्युनिज्म के निर्माण-कार्य को भौतिक प्रोत्साहन के सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध रखा जाय। समाज ज्यों-ज्यों कम्युनिज्म की ओर बढ़ेगा त्यों-त्यों लोगों की व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति अधिकाधिक मात्रा में सार्वजनिक उपभोक्ता कोशों से होने लगेगी और इन कोशों की वृद्धि की रफ़्तार व्यक्तिगत वेतनों की वृद्धि की रफ़्तार से कहीं अधिक तेज़ होगी। वितरण के कम्युनिस्टी सिद्धान्त तक केवल तभी पहुँचा जा सकेगा जबकि काम के अनुसार वितरण करने के सिद्धान्त की उपयोगिता पूरे तौर से समाप्त हो जायगी, अर्थात्, जब भौतिक और सांस्कृतिक सम्पदा का बाहुल्य हो जायगा तथा मेहनत करना समाज के तमाम सदस्यों के जीवन की प्रमुख आवश्यकता बन जायगा।

मेहनत जीवन की मुख्य आवश्यकता कैसे बनेगी ?

कम्युनिज्म की उच्चतर मंज़िल की स्थापना के लिए आवश्यक है कि श्रम मनुष्य की प्रमुख प्राणमूलक आवश्यकता बन जाय।

कम्युनिज्म का भौतिक तथा प्राविधिक आधार तैयार हो जायगा तो काम करने की परिस्थितियाँ भी आमूल बदल जायेंगी। वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक प्रगति के कारण सामाजिक उत्पादन का निरन्तर विस्तार होता जायगा तथा नवीनतम मशीनो से लैस श्रम की उत्पादिता और अधिक बढ जायगी। प्रकृति पर मानव सत्ता का अभूतपूर्व विस्तार हो जायगा और प्राकृतिक शक्तियो पर समाज का और भी अधिक नियंत्रण स्थापित हो जायगा। सम्पूर्ण सामाजिक अर्थ-व्यवस्था का नियोजित संगठन अत्यधिक ऊँची अवस्था मे पहुँच जायगा।

समाज के भौतिक साधनों का इस्तेमाल तब फिर समाज के सदस्यो की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुशलतापूर्वक तथा अत्यन्त बुद्धिसगत ढंग से किया जाने लगेगा।

समाजवादी उत्पादन सम्बन्धो का पूरा विकास-क्रम तथा कम्युनिस्ट सम्बन्धो में उनके रूपान्तरण की सारी प्रक्रिया इस बात के लिए ज़मीन तैयार कर देती है कि श्रम मनुष्य की प्रमुख प्राणमूलक आवश्यकता बन जाय। कम्युनिस्ट समाज मे शहर और देहात की अर्थ-व्यवस्थाओं, सस्कृतियो तथा जीवन बिताने के ढंगो के फर्क पूरे तौर से मिट जायेंगे; खेतिहर श्रम, औद्योगिक श्रम की ही एक क़िस्म बन जायेगा। साथ ही मानसिक तथा शारीरिक श्रम लोगों की उत्पादन सम्बन्धी क्रियाशीलता में एक दूसरे से मिलकर पूर्णतया एकाकार हो जायेंगे।

कम्युनिज़्म का निर्माण हो जाने से समाज के समस्त सदस्यों के बीच पूर्ण सामाजिक समानता स्थापित हो जायगी। तीव्र वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक प्रगति के कारण श्रम की उत्पादिता बेहद बढ़ जायगी और वह समाज में भौतिक तथा आध्यात्मिक सम्पदा की प्रचुरता

पैदा कर देगी। फिर समाज के लिए सम्भव हो जायगा कि साम्यवाद के इस महान् सिद्धान्त को वह साकार कर सके कि "प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार काम करे और अपनी आवश्यकता के अनुसार समाज से चीज़ें ले ले"। समाज की निरन्तर प्रगति होती रहे और समाज के प्रत्येक सदस्य को उसकी आवश्यकताओं, व्यक्तिगत अपेक्षाओं तथा अभिरुचियों के अनुसार समस्त भौतिक एव सांस्कृतिक वस्तुएँ एवं सुविधाएँ प्राप्त हो जायँ— यही कम्युनिस्ट उत्पादन का लक्ष्य है।

—:o:—